॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

'तामादिशक्तिं शिरसा नमामि'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, सितम्बर १९७९

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

आद्यशक्ति भगवती दुर्गा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥

वर्ष ५३ | गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, सितम्बर १९७९ | संख्या ९
पूर्ण संख्या ६३४

सुमङ्गलकारिणी दुर्गाकी जय

जय अष्टादशभुजाधारिणि प्रतिकर प्रहरणधारिणि जय ॥
जय सर्वाङ्ग-आभरणधारिणि सुन्दर त्रिनयनधारिणि जय ।
जय सुविशाल सिंह-आरोहिणि राक्षसदल-संहारिणि जय ॥
जय भीषण भवभीति-निवारिणि निज-जन-संकटहारिणि जय ।
जय दुर्गे मोहार्णव-तारिणि परम सुमंगलकारिणि जय ॥

(पदरत्नाकर ८७३)

कल्याण-वाणी

विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् ही प्रकट हैं। जीवके रूपमें शिव ही विविध लीला कर रहे हैं। इसलिये तुम किसीसे घृणा न करो, किसीका कभी अनादर न करो, किसीका अहित मत चाहो। निश्चय समझो कि यदि तुमने स्वार्थवश किसी जीवका अहित किया, किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी तो वह चोट तुम्हारे भगवान्के ही हृदयमें लगेगी। तुम चाहे जितनी देर अलग बैठकर भगवान्को मनाते रहो, परंतु जबतक सर्वभूतोंमें स्थित भगवान्पर तुम स्वार्थवश चोट करते रहोगे, तबतक भगवान् तुम्हारी पूजा कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

सबका सम्मान करो, सबका हित चाहो, सबके साथ प्रेम करो, आत्मदृष्टिसे बाहरी सब भेदोंको भुलाकर सबको नमस्कार करो। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यवहारके आवश्यक भेदको भी मिटा दो। दुष्ट बुद्धिवाले पुरुषको जीवन्मुक्त महात्मा मत समझो। मूर्खको विद्वान् समझकर उसकी बात सुनोगे तो गिर जाओगे। विद्वान्को मूर्ख मानकर उनकी बात नहीं सुनोगे तो ज्ञानसे वञ्चित रह जाओगे। पापसे घृणा करो, असंयमसे द्वेष करो, दुष्ट आचरणोंसे वैर करो, कुविचारोंका अपमान करो, नास्तिकताका विनाश करो; जिनमें ये सब दोष हों उनसे अलग रहो; परंतु उनसे आत्मैक्यकी दृष्टिसे घृणा न करो। स्वरूपमें अभेद और व्यवहारमें आवश्यक भेद रखो।

किसीको नीच, पतित या पापी मत समझो, याद रखो कि जिसे तुम नीच, पतित और पापी समझते हो, उसमें भी तुम्हारे वे ही भगवान् विराजित हैं, जो महात्मा-ऋषियोंके हृदयोंमें हैं। सबको प्रेम दान करो, सबके प्रति सहानुभूति रखो। किसीकी निन्दा न करो। किसीकी निन्दा न सुनो। साधकको तो दूसरेकी निन्दा सहन ही नहीं होनी चाहिये। निन्दा सुननी हो तो अपनी सुनो और करनी आवश्यक समझो तो अपनी सच्ची निन्दा करो।

अपनेको कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती तो केवल इसी आधारपर किसी वस्तुको बुरी न मान लो और न उसके ध्वंसकी चेष्टा ही करो। यह मत समझ बैठो कि तुम्हारा सर्वथा सुधार हो गया है, तुम्हारी सभी बातें सबके लिये कल्याणकारी हैं और तुम्हारे विचारोंमें भ्रम है ही नहीं। जबतक मनुष्यमें राग-द्वेष है, तबतक उसका निर्णय कभी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। कभी अपनेको दूसरोंसे श्रेष्ठ समझकर अभिमान मत करो। अगर करोगे तो तुम्हारा पतन भी जरूर होगा। अतएव पहले अपने दोषोंको देखो, उनमें सुधार करो, फिर दूसरोंके सुधारकी चेष्टा करो।

छोटे-से जीवनमें इतना समय ही कहाँ है कि जिसको परचर्चा और परनिन्दामें खर्च किया जाय। तुम्हें तो अपनी उन्नतिके कामोंसे ही कभी फुरसत नहीं मिलनी चाहिये। इतना अवश्य याद रखो कि दूसरोंकी अवनति करके—दूसरोंका बुरा करके तुम अपनी उन्नति या भलाई कभी नहीं कर सकते। तुम्हारा मङ्गल उसी कार्यमें होगा, जिसमें दूसरेका मङ्गल भरा हो। कम-से-कम अपने मङ्गलके लिये मोहवश, दूसरोंका अमङ्गल कभी न करो—न चाहो। अपने अमङ्गलसे दूसरोंका मङ्गल होता दीखे तो जरूर करो। यह विश्वास रखो कि दूसरोंका मङ्गल करनेवाले पुरुषका परिणाममें कभी अमङ्गल हो ही नहीं सकता।

भगवान् मङ्गलमय हैं, हमारे परम हितैषी हैं, सर्वज्ञ हैं, किस बातमें कैसे हमारा हित होता है, इस बातको जानते हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानका स्वागत करो। खुशीसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करो। उनके हाथके दिये जहरमें अमृतका अनुभव करो, उनके हाथकी तलवारमें शान्तिकी छवि देखो, उनके कोमल-कर-स्पर्शसे महिमाको पाये हुए सुदर्शनमें परम सुखके शुभ-दर्शन करो और उनकी दी हुई मौतमें अमरत्वको प्राप्त करो। उनके प्रत्येक मङ्गल-विधानमें उनको स्वयमेव अवतीर्ण देखो। भगवान् सदा मङ्गलमय हैं। 'शिव'

*

परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

[भगवान्‌का विस्मरण कभी न हो]

मनुष्यके लिये सर्वोत्तम बात यह है कि वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को न भूले। जो मनुष्य यह नियम ले लेता है कि 'मैं एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलूँगा' और उसका पालन भी करता है, उसको इसी जन्ममें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। स्वयं भगवान्‌ने गीता (८ । १४) में कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌की इस घोषणापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इसी क्षणसे मृत्युपर्यन्त मैं जान-बूझकर भगवान्‌को नहीं भूलूँगा।' ऐसा निश्चय सच्चा होनेपर भगवान् उसमें सहायता करते हैं और अन्तमें उस भक्तकी इच्छा पूर्ण करते हैं। कभी कुछ भूल भी हो जाती है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। यदि कोई कहे कि 'अठारह घंटे तो मनुष्य भगवान्‌का स्मरण कर सकता है, परंतु सोनेके समय छः घंटे उनका स्मरण करना उसके वशकी बात नहीं है' तो इसके लिये यह नियम है कि जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जो काम करता है, स्वप्नमें उसका मन प्रायः उसीकी स्मृतिमें लीन रहता है। ऐसा देखनेमें आया है कि जो जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखते हैं, स्वप्नमें भी उन्हें भगवान्‌की ही स्मृति रहती है। इतना ही नहीं, जो सोनेके कुछ समय पूर्व ही भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरणके बीचमें निद्राग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें भी प्रायः भगवद्-विषयक ही स्वप्न आते रहते हैं। अतएव यह चेष्टा रखनी चाहिये कि होश रहते हुए भगवान्‌का स्मरण न छूटे। जान-बूझकर भगवान्‌को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि जिस क्षण हमने भगवान्‌को भुलाया उस समय यदि मन पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य-देवता आदिके चिन्तनमें लग गया और संयोगसे उसी क्षण प्राण छूट गये तो हमारे चिन्तनके अनुसार हमें पशु-पक्षी आदिकी योनि ही प्राप्त होगी। भगवान्‌ने गीता (८ । ६) में यह भी कहा है कि—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

यह मानव-जीवनकी कितनी बड़ी हानि है। मानव-जीवनकी दुर्लभतापर विचार करनेसे इस हानिकी भयानकताका कुछ अनुमान हो सकता है। चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता-भटकता जीव जब अत्यन्त दुःखित हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(रा० च० मा० ७ । ४३ । ३)

ऐसा सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भगवान् गीताके आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें उपाय बताते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

भगवान्ने स्मरणकी बात मुख्यरूपमें कही है, युद्ध करनेकी गौणरूपमें । इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्का स्मरण एक क्षणके लिये भी न छूटे, अन्यथा मानव-जीवन व्यर्थ सिद्ध हो सकता है ।

जो मनुष्य भगवान्में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही गीता (१० । १०) के अनुसार भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेम-पूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

इसलिये भगवान्ने गीता (१२ । ८) में अर्जुनको आदेश दिया कि—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

भगवान् जब इतना विश्वस्त आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन-बुद्धि और क्या काम आयेंगे । इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्के काममें ही लगा देना चाहिये । इसीलिये मानव-जन्म मिला है ।

भगवान्को छोड़कर किसी भी पदार्थका चिन्तन करना आत्मघातके सदृश है; क्योंकि उससे हमारा मानव-जीवन नष्ट हो जाता है । मूल्यवान्-से-मूल्यवान् पदार्थका चिन्तन भी हमें भगवान्की प्राप्ति नहीं करा सकता । इसलिये बड़ी तत्परतापूर्वक ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि भगवान्को छोड़कर मन और किसी पदार्थके चिन्तनमें लगे ही नहीं । समय बड़ा मूल्यवान् है । मानव-जीवनके गिने-गिनाये श्वास हमें मिले हैं । लाख रुपये खर्च करनेपर भी उससे अधिक एक मिनटका भी समय नहीं मिल सकता । मानव-जीवनके एक क्षणकी भी कीमत नहीं आँकी जा सकती; क्योंकि भगवान्का चिन्तन करनेसे वह क्षण भगवान्की प्राप्ति करा सकता है । फिर समूचे मानव-जीवनकी तो बात ही क्या है । मानव-जीवनका यह महत्त्व इसीमें है कि वह भगवान्की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है । अन्य किसी भी योनिमें यह सम्भव नहीं है । अतएव मानव-जीवनके समयको बितानेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये । परमात्माके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें समय लगानेवालोंको संतोंने मूर्ख कहा है ।

सांसारिक पदार्थोंके संग्रहमें लगाया हुआ समय भी व्यर्थ है । मान लीजिये, एक महीनेमें हमारा लाख रुपयेका रोजगार होता है । बारह महीनोंमें बारह लाखका हुआ; तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? रुपयोंकी थैलियाँ यहीं रह जायँगी, जीवको अकेले ही जाना पड़ेगा । हाँ, रुपयोंको बटोरनेमें जो पाप हम किये हैं, वे अवश्य हमारे साथ रहेंगे । अतएव रुपयोंके संग्रहमें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिये—(१) न तो उसके संग्रहके लिये भगवान्को भुलावे और (२) न उसके संग्रहमें पापका आश्रय ले । मरनेपर रुपयोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा । गधा ढो-ढोकर मिट्टी इकट्ठी करता है, भगवान्को भूलकर रुपये बटोरना ठीक ऐसा ही है । मरनेपर न गधेको मिट्टी काम आती है और न रुपया हमारे काम आता है । इस न्यायसे मनुष्य-जीवनका समय धन बटोरनेमें क्यों बरबाद किया जाय ?

कुछ भाई इस शरीरके पोषणमें समयको लगाते हैं । नाशवान् शरीरके पोषणमें समयका लगाना भी उसका अपव्यय है । विशेष खान-पान सावधानी आदिसे शरीरमें

दस सेर मांस बढ़ गया तो क्या हो गया । आखिर तो मरना ही पड़ेगा । शरीर अधिक भारी हो गया तो शव भी भारी होगा । शव ढोनेवाले यही कहेंगे कि 'लाश बड़ी भारी है ।' इस मोटापेसे और होगा क्या ? मोटे शरीरके जलनेपर एक-दो सेर राख अधिक हो जायगी । शवकी राख किस कामकी ? किसीकी आँखमें गिरकर वह उसको कष्ट ही दे सकती है । अतएव शरीरको अधिक पुष्ट करनेमें समयको लगानेसे कोई लाभ नहीं ।

कुटुम्ब-पालनमें भी भगवान्‌को भूलकर ममता और रागसे युक्त हो समय नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि कुटुम्बका राग तो और अधिक दुःख देनेवाला है । अनन्तकालसे कुटुम्ब हमको धोखा देता चला आ रहा है । आजसे पूर्व भी तो हमलोग किसी कुटुम्बके थे । क्या उसकी अब हमको कुछ स्मृति भी है ? अब हमें कुछ भी स्मरण नहीं है कि पूर्व जन्ममें हम कहाँ थे, हमारा कौन कुटुम्ब था । इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेपर यह कुटुम्ब भी याद नहीं रहेगा । सौ-दो-सौ वर्षोंके बाद तो यह कुटुम्ब कहाँ-से-कहाँ चला जायगा, कुछ भी पता नहीं है । अतएव मृत्यु होनेके साथ ही जिससे बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेवाला है, उस अपने कुटुम्बके प्रति मोह-ममता रखकर भगवान्‌को भुला देना और समयको उसके पालन-पोषणमें नष्ट कर देना मानव-जीवनका दुरुपयोग है । इससे बचना चाहिये ।

संसारके जिन-जिन पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे अवश्य बिछुड़नेवाले हैं । इस शरीरके सभी सम्बन्ध काल्पनिक और नाशवान् हैं, यों समझकर उनके प्रति मोह-ममताको पहलेसे समेट लें तो उत्तम है । हम विवेकपूर्वक उपर्युक्त प्रकारसे साधन कर लेंगे तो मुक्त हो जायँगे और यदि साधन न करनेके कारण हमको विवश होकर इन सम्बन्धोंको छोड़ना पड़ा तो हम भटकते फिरेंगे । जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना पड़ेगा । लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता; क्योंकि नियम है कि '**जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना** ।' अतः जिस कामके लिये आये हैं, उसे अवश्य कर लेना चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । गोस्वामी तुलसीदासजी रामचरितमानस (७ । ४३)में कहते हैं—

> **सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।**
> **कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥**

'जो मनुष्य इस समय सचेत नहीं होता, उसको आगे चलकर सिर धुन-धुनकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । वह मूर्ख उस समय काल, कर्म और ईश्वरपर झूठा दोष लगायेगा ।' वह यही कहेगा—'कलियुगके कारण मैं अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सका । मेरे कर्म ही ऐसे थे, मेरे भाग्यमें ऐसी ही बात लिखी थी । ईश्वरने मेरी सहायता नहीं की, आदि-आदि ।' उसका यह रोना व्यर्थ है—मिथ्या है । अतएव अभीसे सावधान हो जाना चाहिये । घर-कुटुम्ब और विषय-भोग तो अन्य योनियोंमें भी मिल चुके हैं और आगे भी मिल सकते हैं; पर भगवान्‌को प्राप्त करनेका यही सर्वोत्तम जीवन है—भागवतकारने यही बात कुछ शब्दान्तरसे कही है—

> **लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहु सम्भवान्ते**
> **मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।**
> **तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-**
> **न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥**
> (११ । ९ । २९)

परमात्माकी प्राप्ति स्वयं अपने किये ही होगी । कोई दूसरा हमारे लिये इस कार्यको नहीं कर सकेगा । संसारका कोई काम बाकी रह गया तो हमारे पीछे हमारे उत्तराधिकारी अथवा दूसरे लोग कर लेंगे, पर परमात्माकी प्राप्तिमें यदि त्रुटि रह गयी तो हमको पुनर्जन्म लेना पड़ेगा । अतएव जो काम हमारे ही किये होगा, दूसरेसे नहीं और जिसको करना अनिवार्य है, उसीमें समय लगाना चाहिये ।

संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं, माया-मात्र हैं, स्वप्नके संसारमें जो कुछ होता है, सब सत्य प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें उसकी सत्ता नहीं होती ।

आँख खुलनेपर न तो वह संसार रहता है, न शरीर और न वह व्यवहार ही। इसी प्रकार संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब शरीरको लेकर ही हैं; शरीर शान्त होनेपर इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जायगा। इसलिये आवश्यकता है कि हम इन सम्बन्धोंका त्याग मनसे पहलेसे ही कर दें, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न हो। याद रखें कि वे सभी सम्बन्धी हमें त्याग देंगे; फिर हम क्यों न अभीसे उन्हें त्याग दें? महात्मा तुलसीदासजी विनयपत्रिकामें कहते हैं—

'अंतहिं तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबहीं तें।'

जबतक मानव-जीवन शेष है, तबतक सब कुछ हो सकता है। परमात्माकी शरण लेकर मनुष्य जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है।

भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे ही होती है। इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले। भगवान्‌को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। जगत्‌के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकतरको दुःखकी ही उपलब्धि होती है। अतएव जड़ पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; यतः इच्छा करनेसे जड पदार्थ प्राप्त नहीं होते। उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये और वह अब हमारे हाथमें नहीं है; पर भगवान्‌के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं। अतः भगवान्‌को प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवत्प्राप्ति होकर ही रहेगी।

भगवान् श्रीकृष्णका लीला-माधुर्य

(लेखक—डॉ श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्०ए०, डी० फिल्०)

परब्रह्म आनन्दस्वरूप है, रसस्वरूप है, माधुर्य-स्वरूप है। माधुर्य ही है उसकी भगवत्ताका सार—

माधुर्य भागवतासार, व्रजे कैल परचार,
ताहा शुक व्यासेर नन्दन।
भागवतेर स्थाने-स्थाने, करिया छेन व्याख्याने,
जाहा शुनि जुड़ाय भक्त-कान॥
(चै० च० २। २१। ९२)

शङ्का हो सकती है कि श्रुतियोंमें तो भगवान्‌के ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंका वर्णन है। दोनों ही उनकी स्वरूप-शक्तिकी वृत्तियाँ हैं, फिर केवल माधुर्यको भगवत्ताका सार माननेका क्या कारण? इसका उत्तर है कि माधुर्य ऐश्वर्यको प्रभावित करता है। व्यावहारिक जगत्‌में भी देखनेमें आता है कि माधुर्यमें जो मन और प्राणको वशमें करनेकी शक्ति है, वह ऐश्वर्यमें नहीं है। राजा अपने ऐश्वर्यसे किसीको बंदी तो बना सकता है, उसके शरीरपर अपना प्रभुत्व भी जमा सकता है, पर उसके मन और प्राणको वशीभूत कर सकता है—अपने प्रेमपूर्ण मधुर व्यवहारसे ही। निर्विशेष ब्रह्म भी भगवान्‌का एक रूप है। उसमें शक्तिका विकास न होनेके कारण ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति नहीं है। पर निर्विशेष ब्रह्मसे सायुज्यप्राप्त जीवोंको ब्रह्मानन्दरूपी माधुर्यका अनुभव होता है और वे उसमें इतना तन्मय हो जाते हैं कि अपने अस्तित्वको भी भूल जाते हैं।

परव्योममें माधुर्यकी अपेक्षा ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति अधिक है। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वहाँ माधुर्यकी अपेक्षा ऐश्वर्यका प्रभाव अधिक है। वहाँ अखिलरसामृतमूर्ति श्रीभगवान्‌को ऐश्वरानन्दका अनुभव करानेके लिये माधुर्य पूर्णरूपसे आत्म-प्रकाश नहीं करता। यदि यह माना जाय कि वहाँ ऐश्वर्यके प्रभावसे माधुर्य संकुचित हो जाता है तो '**भक्तिरेव भूयसीति**' का कोई अर्थ न रहेगा।

व्रजमें विशुद्ध माधुर्यका प्रकाश है। साथ ही व्रजके भगवान् कृष्णमें भगवदीय ऐश्वर्यका पूर्ण प्रकाश है।

इसलिये उनकी सभी शक्तियाँ उनमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। पर वहाँ ऐश्वर्य अपना आत्म-प्रकाश तभी करता है, जब लीला-सम्पादनके लिये उसके आत्म-प्रकाशकी आवश्यकता होती है। उस समय भी उसके आत्म-प्रकाश करनेकी परिपाटी ऐसी होती है कि उससे माधुर्यमें कमी नहीं होती, वरन् माधुर्य और अधिक उच्छ्वसित होता है और श्रीकृष्णका नराभिमान ज्यों-का-त्यों बना रहता है। ऐश्वर्य-शक्ति सेवाका अवसर देखकर अपना कार्य कर जाती है।

पूतना आयी एक सुन्दर स्त्रीका रूप धारण कर शिशुरूपी श्रीकृष्णके प्राण हर लेने! श्रीकृष्णको गोदमें लेकर उसने कालकूटसे सने अपने स्तनको उनके मुखमें दिया। वे दोनों हाथोंसे स्तन पकड़कर उसके प्राणपर्यन्त पान कर गये! गोपियाँ भयभीत हो कृष्णका अन्वेषण करने लगीं। देखा कि शिशु उसके विशाल वक्षःस्थलपर आनन्द और निर्भीकतासे क्रीड़ा कर रहा है (श्रीमद्भा० १० । ६ । १८)!

उनकी ऐश्वर्यशक्तिने केवल उनके मनका प्रयोग कर पूतनाके उद्देश्यको जान लिया था और उनके अङ्गोंका प्रयोग कर उसके प्राण हर लिये थे।

माँ यशोदाने बालकृष्णको उलूखलसे बाँधना चाहा; क्योंकि उन्होंने दहीका मटका फोड़ दिया था और मक्खन बंदरोंको लुटा दिया था। बालकृष्ण बँधना नहीं चाहते थे। ऐश्वर्य-शक्तिने सेवाका अवसर जान उनके बिना जाने ही उनके विभुत्वका प्रकाश किया। विभु कृष्णको कौन बाँध सकता था? जिनका कोई ओर नहीं, छोर नहीं, वह एक संकुचित सीमामें कैसे बँध सकेगा? रस्सी दो अङ्गुल छोटी पड़ गयी। दूसरी रस्सी जोड़ी गयी, जोड़ी हुई रस्सीके साथ भी वह दो अङ्गुल छोटी रही। धीरे-धीरे घरकी सारी रस्सियाँ जोड़ दी गयीं, फिर भी वे दो अँगुल छोटी रहीं। माँ थक गयीं। पसीनेसे लथपथ और हाँफते हुए उन्हें देखकर कृष्णको कष्ट होने लगा। तब उनकी करुणाका आविर्भाव हुआ। उसी समय विभुत्व अन्तर्हित हो गया और माँ कृष्णको बाँधनेमें समर्थ हुईं (१० । ९ । १६)। विभुताके प्रकट होनेपर भी कृष्णको उसका ज्ञान न था। वे उस समय भी माँके भयसे सर नीचा किये अश्रुविसर्जन कर रहे थे।

शारदीय महारासके समय श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका महाप्रकाश हुआ। प्रत्येक गोपीके मनमें वासना जगी कि कृष्ण उसके साथ नृत्य करें। उनके प्रेमके प्रभावसे कृष्णके हृदयमें भी उत्कण्ठा हुई—प्रत्येक गोपीके साथ नृत्य करनेकी। उनकी अचिन्त्य-शक्ति योगमायाने तत्क्षण बिना उनकी प्रेरणाके ही उनके अनन्त रूप प्रकट कर दिये। दो-दो गोपियोंके बीच एक-एक कृष्णका रास-नृत्य आरम्भ हुआ। प्रत्येक गोपी प्राण-प्रिय कृष्णको अपने निकट पाकर सेवा-सुखमें इतनी तन्मय हो गयी कि उसे अपने निकट विराजमान श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ देखने-सुननेकी शक्ति ही न रही। उसने समझा कि कृष्ण केवल उसके साथ उसके गलेमें बाँह डालकर नृत्य कर रहे हैं (१० । १३ । १७)। कृष्ण भी उसके प्रेममें इतने मुग्ध हो गये कि उन्हें और किसीका ध्यान न रहा। वे भी यह समझते रहे कि वे केवल उस गोपिकाके साथ नृत्य कर रहे हैं। यहाँ ऐश्वर्यने अपना पूर्ण प्रकाश कर श्रीकृष्ण और गोपियोंकी इच्छाकी पूर्ति की, पर माधुर्य (प्रेम)के पूर्ण आनुगत्यमें रह कर ही। श्रीकृष्ण और गोपियोंको ऐश्वर्यके इस विराट् प्रकाशका कुछ भी पता न चला। प्रेम-सेवा-जनित आनन्दकी तन्मयतामें प्रत्येक गोपीका यह अभिमान बना रहा कि कृष्ण केवल उसके साथ नृत्य कर रहे हैं। तदनुरूप कृष्णका भी यह अभिमान अक्षुण्ण रहा कि वे केवल उसके साथ नृत्य कर रहे हैं।

ब्रह्मा श्रीकृष्णके साथ गोचारणके लिये गये हुए ग्वाल-बालों और उनके तथा अन्य बालकोंके बछड़ोंका अपहरण कर ले गये। कृष्ण उनका अन्वेषण करने लगे। कहीं भी उन्हें न पाकर उनकी व्याकुलताको देख ऐश्वर्य-शक्तिने सर्वज्ञताका प्रकाश किया। तब उन्होंने जाना कि यह ब्रह्माकी करतूत है (भाग० १०।१३।१७)। उसी समय वे उन ग्वाल-बालों और उनके गोवत्सोंके द्वितीय स्वरूपमें प्रकट हुए। यह ग्वाल-बाल और गोवत्स आकृति-प्रकृति, चाल-ढाल और वेश-भूषामें ठीक वैसे ही थे, जैसे वे जिनका ब्रह्माने अपहरण किया था (१०। १३।१८)। इन्हें लेकर कृष्ण नित्यकी भाँति घर लौट गये। एक वर्ष बीत गया। यह एक वर्ष ब्रह्माका तो एक ही पल था। दूसरे पल ब्रह्माने देखा कि जिन अपहृत ग्वाल-बालों और गोवत्सोंको वे किसी स्थानपर रख आये थे, वे वहाँ भी हैं और कृष्णके साथ भी। तब उन्होंने देखा कि कृष्णके साथ जो गोपबालक और गो-वत्स हैं वे और उनके वेणु, विषाणादि सब यथावत् हैं। उन-उन रूपोंमें श्रीकृष्ण प्रकट हो गये थे। उस समय 'यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है'—यह वेदवाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी। सर्वात्मा भगवान् स्वयं ही बछड़े बन गये और स्वयं ही ग्वाल-बाल। फिर थोड़ी ही देरमें सारा दृश्य बदल गया और उन्होंने (ब्रह्माने) देखा 'यह जगत् और वृन्दावन, जिसमें अनुपम सौन्दर्ययुक्त श्रीकृष्ण गोपवेशमें विहार कर रहे हैं।' ब्रह्माने नतमस्तक हो श्रीकृष्णकी स्तुति की और अपने स्थानको चले गये। वे श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको देख कृतकृत्य हो गये।

श्रीकृष्णकी इस लीलामें पग-पगपर उनके विराट् ऐश्वर्यका प्रदर्शन है। पर यह कार्य उनके अनजाने ही उनकी ऐश्वर्य-शक्तिद्वारा सम्पादित हुआ। उनका नर-अभिमान और माधुर्य बराबर बना रहा। उन्हें न तो अपने ऐश्वर्यका ज्ञान था, न उनके ऊपर उसका कोई प्रभाव था।[1]

श्रीकृष्णके जाने बिना ऐश्वर्यशक्तिद्वारा किस प्रकार यह कार्य सम्पन्न हुआ, इसका सुन्दर विवेचन श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपादने श्रीमद्भागवतकी अपनी टीकामें किया है। ब्रह्माके मनमें वासना जगी—श्रीकृष्णकी मञ्जुमहिमाका दर्शन करनेकी। व्रजगोपियों और व्रजगामियोंका श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्यभाव था। उन्होंने इच्छा की थी, अपने पुत्ररूपमें उनकी सेवाका अवसर प्राप्त करनेकी। श्रीकृष्णकी सर्वज्ञता-शक्तिने लीलाकी पुष्टिके लिये श्रीकृष्णको उनकी इच्छासे अवगत कराया था। श्रीकृष्णमें उनकी प्रीतिके प्रभावसे तदनुकूल भाव जाग्रत हुआ था। वे सोचने लगे थे कि यदि वे ब्रह्माको अपनी मञ्जुमहिमाका दर्शन कराते और गोपियों तथा गामियोंके निकट उनकी सन्तानके रूपमें उपस्थित हो सकते तो उन्हें कितना आनन्द होता। श्रीकृष्णकी यह इच्छा जानकर उनकी ऐश्वर्य-शक्तिने उन्हें गोवत्सों और उनके पालक ग्वाल-बालोंके रूपमें प्रकाशित किया।[2]

---

१. हमारी साधारण बुद्धिके लिये यह बात सम्भव नहीं जान पड़ती, पर श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके लिये सम्भव-असम्भवका प्रश्न ही नहीं उठता। प्राकृत जगत्के दोहरे व्यक्तित्व (Double personality) के उदाहरणसे इसे कुछ-कुछ समझा जा सकता है, जिसका निरूपक मनोविज्ञान है। दुहरे व्यक्तित्वमें दो विभिन्न प्रकारके, कभी-कभी एक दूसरेके विपरीत व्यक्तित्वोंका एक ही व्यक्तित्वमें समावेश होता है। दोनों बारी-बारीसे व्यक्तिका संचालन करते हैं और एक व्यक्तित्वको दूसरेका कोई ज्ञान नहीं होता। श्रीचैतन्य-महाप्रभुके चरित्रमें भी दो विभिन्न प्रकारके व्यक्तित्व देखनेमें आते हैं। एकमें उन्हें भगवत्-आवेश होता था, दूसरेमें भक्तावेश। भगवत्-आवेशमें वे भगवान्-जैसा व्यवहार करते थे जिसका भक्त-आवेशमें उन्हें कोई ज्ञान नहीं रहता था।

२. द्रष्टव्य भा० १०।१३।१८की श्रीसनातनगोस्वामीकी वैष्णवतोषिणी और चक्रवर्तिपादकी टीकाएँ।

श्रीकृष्णकी समस्त शक्तियाँ उनकी इच्छा-शक्तिके आनुगत्यमें कार्य करती हैं। यह कार्य भी उनकी परम-प्रिय गोपियों और गामियोंको आनन्द पहुँचानेकी उनकी इच्छाके आनुगत्यमें ही उनकी ऐश्वर्य-शक्तिने सम्पादित किया। ऐश्वर्य-शक्तिने ही वत्स और वत्सपालकोंको आच्छादित कर अनन्त चतुर्भुज-रूपोंको प्रकट किया। अन्तमें ऐश्वर्य-शक्तिने ही चतुर्भुजरूपोंको आच्छादित कर श्रीकृष्णको ब्रह्माके समक्ष प्रकट किया। श्रीकृष्णको इस बीच अपने ईश्वरत्वका ज्ञान बिल्कुल नहीं था। यह बात इससे स्पष्ट है कि जब ब्रह्माने उनकी स्तुति की तब वे चुप रहे। उन्हें ब्रह्माको स्तुति करते देख कौतुक हुआ। चक्रवर्तिपादने लिखा है कि ब्रह्माको स्तुति करते देख वे सोचने लगे—'यह चार मुखवाला कहाँसे आ गया! यह बार-बार क्या कह रहा है! मैं तो एक गोपबालक हूँ। अपने खोये हुए गोवत्सोंके अन्वेषणमें लगा हूँ और यह मेरे विषयमें न जाने क्या-क्या कह रहा है!

ब्रह्माके चले जानेके पश्चात् श्रीकृष्ण वत्स और वत्सपालकोंको उस स्थानसे यमुना-पुलिन ले आये, जहाँ ब्रह्माने उन्हें छिपाकर रखा था। उस समय भी उनकी स्थिति ठीक वैसी थी, जैसी उस समय जब ब्रह्माने उनका अपहरण किया था। उस समय भी बछड़े पूर्वकी भाँति हरी घास चर रहे थे और उनके पालक ग्वाल-बाल खानेकी सामग्री हाथमें लिये थे (१०।१४।४२)।

प्रश्न हो सकता है कि कृष्णको इस स्थानका पता कैसे चला? उनकी सर्वज्ञता-शक्तिने उन्हें यह सूचना पहले ही क्यों न दी, जिससे उन्हें स्वयं उनके रूपमें प्रकट होनेकी आवश्यकता ही न पड़ती? इस सम्बन्धमें भी वैष्णव-तोषिणीकारने लिखा है कि कृष्ण-की इच्छाके अनुरूप योगमाया शक्तिके कार्य करनेके सिद्धान्तकी सहायतासे ही इस समस्याका भी समाधान करना चाहिये'। पूर्वमें श्रीकृष्णकी इच्छा हुई थी बछड़ों और उनके पालकोंकी माताओंको उनके पुत्ररूपमें प्रकट होकर उन्हें आनन्द पहुँचानेकी। यदि उस समय उनकी सर्वज्ञता-शक्ति उन्हें उस स्थानसे अवगत करा देती तो इस लीलाका सम्पादन कैसे होता?

(आगामी अङ्कमें समाप्त)

हरिकी लीला

हरि की लीला कहत न आवै।
कोटि-ब्रह्मांड छनहिं मैं नासै, छनही मैं उपजावै॥
बालक-बच्छ ब्रह्म हरि ले गयौ, ताकौ गर्व नवावै।
ऐसौ पुरुषारथ सुनि जसुमति, खीझति फिरि समुझावै॥
सिव-सनकादि अंत नहिं पावैं, भक्त-बछल कहवावै।
सूरदास प्रभु-गोकुल मैं, सो, घर-घर गाइ चरावै॥

(सूरसागर—११००)

१. द्रष्टव्य— भा० १०।१४।४२की वैष्णवतोषिणी टीका।

श्रीराधा-जन्म-महोत्सवके उपलक्ष्यमें—

श्रीराधा-तत्त्व और महिमा

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

वन्दे वृन्दावनानन्दां राधिकां परमेश्वरीम् ।
गोपिकां परमां श्रेष्ठां ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम् ॥

जगज्जननी श्रीकृष्णस्वरूपा भगवती श्रीराधा अनेक चिन्तकों और विचारकोंके लिये एक विलक्षण पहेली बनी हुई हैं और उनके अनिर्वचनीय तत्त्व-रहस्यको जबतक कोई पूर्णतया जान नहीं लेगा, तबतक उसके लिये ये पहेली ही बनी रहेंगी; क्योंकि ये साधन-राज्यकी सर्वोच्च सीमाकी साधना तथा सिद्ध-राज्यमें समस्त पुरुषार्थोंमें परम और चरम पुरुषार्थमय हैं ।

हमारे विचारसे सच्चिदानन्दघनविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण ही विभिन्न दिव्य रूपोंमें लीलायमान हैं । वह एक ही परमतत्त्व श्रीकृष्ण-राधा और अनन्त गोपीजनोंके रूपमें दिव्यतम, मधुरतम स्वरूपभूत लीला-रसका आस्वादन करता रहता है । इस आस्वादनमें वस्तुतः आस्वादक तथा आस्वाद्यका कोई भेद नहीं है । परम तत्त्व श्रीकृष्ण निरुपम, निरुपाधि, सत्, चित्, आनन्दघन हैं, सत् संधिनी, चित् चिति और आनन्द ह्लादिनी-शक्ति हैं । ये ह्लादिनी-शक्ति स्वयं श्रीराधा हैं, संधिनी वृन्दावन बनी है और 'चिति' शक्ति समस्त लीलाओंकी व्यवस्थापिका तथा आयोजिका 'योगमाया' है । वस्तुतः श्रीराधा ही लीलाविहार-के लिये अनन्त कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंके रूपमें प्रकट हैं । भगवान् श्रीकृष्ण एकमात्र 'रस' हैं और उन दिव्य मधुरातिमधुर रसका ही यह सारा विस्तार है । भगवान् और भगवान्‌की शक्ति ये ही वस्तुतः रस-तत्त्व हैं, अन्य समस्त रस तो विरस (विपरीत रस), कुरस (कुत्सित रस) और अरस (रसहीन) रूपसे पतनकारी हैं । अतएव सच्चिदानन्दविग्रह परम रस रसराज श्रीकृष्णमें और सच्चिदानन्दविग्रह आनन्दांशघनीभूता, आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविता रसमयी श्रीराधामें तत्त्वतः कुछ भी अन्तर नहीं है । एक ही नित्य, दो नित्य बने हुए लीला-रसका वितरण तथा आस्वादन करते रहते हैं । परंतु भगवान्‌की केवल मधुरतम लीलाओंका ही नहीं, उनकी लीला-मात्रका तत्त्वतः एकमात्र आधार उनका परमशक्ति-राधारूप ही है ।

शक्तिसे ही शक्तिमान्‌की सत्ता है और शक्ति रहती है शक्तिमान्‌में ही; अतः अनादि, सर्वादि, सर्वकारण-कारण, अद्वय, ज्ञान-तत्त्वरूप सच्चिदानन्दघन व्रजरसनिधि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र और उनकी ह्लादिनी-शक्ति श्रीराधाजीका परस्पर अभिन्न तथा अविनाभाव (एकके बिना दूसरेका न होना) नित्य अविच्छेद्य तथा ऐक्य सम्बन्ध है । श्रीराधा पूर्ण शक्ति हैं, श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। श्रीराधा दाहिका शक्ति हैं, श्रीकृष्ण साक्षात् अग्नि हैं । श्रीराधा प्रकाश हैं, श्रीकृष्ण भुवन-भास्कर हैं। श्रीराधा ज्योत्स्ना हैं, श्रीकृष्ण पूर्णचन्द्र हैं। इस प्रकार दोनों एक नित्य स्वरूप हैं। एक होते हुए ही श्रीराधा समस्त कृष्णकान्ताओंकी शिरोमणि ह्लादिनी-शक्ति हैं । वे स्वमन-मोहन-मनो-मोहिनी हैं, भुवनमोहन-मनोमोहिनी हैं, मदन-मोहन-मनोमोहिनी हैं । वे पूर्णचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रके पूर्णतम विकासकी आधारमूर्ति हैं और वे हैं अपने विचित्र विभिन्न भावतरङ्गरूप अनन्त सुख-समुद्रमें श्रीकृष्णको नित्य निमग्न रखनेवाली महाशक्ति ।

श्रीराधाजी अचिन्त्यानन्द गुण-गणकी अनन्त आकर हैं; तथापि श्रीकृष्णके सम्मुख वे अपनेको सदा सर्वसद्गुण-हीन अनुभव करती हैं । वे परिपूर्ण-प्रेम-प्रतिमा होनेपर भी अपनेमें प्रेमका सर्वथा अभाव देखती हैं । वे समस्त सौन्दर्यकी एकमात्र निधि होनेपर भी अपनेको सौन्दर्य-

रहित मानती हैं और पवित्रतम सहज सरलताके उनके स्वभावकी सहज वस्तु होनेपर भी वे अपनेमें कुटिलता तथा दम्भके दर्शन करती और अपनेको धिक्कार देती हैं। वे अपनी एक अन्तरङ्ग सखीसे कहती हैं—

सखी री ! हौं अवगुन की खान।
तन गोरी, मन कारी भारी, पातक पूरन प्रान॥
नहिं त्याग रंचक मो मनमें भरयौ अमित अभिमान।
नहिं प्रेम कौ लेस रहत नित, निज सुख कौ ही ध्यान॥
जगके दुःख-अभाव सतावैं हो मन पीड़ा-भान।
तब तेहि दुख दग स्रवै अश्रु जल, नहिं कछु प्रेम-निदान॥
तिन दुख-अँसुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान्।
करौं कपट, हिय-भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग स-ज्ञान॥

अतएव श्रीराधाके शृङ्गारमें तथा जागतिक शृङ्गारमें नामोंकी एकताके अतिरिक्त किसी भी अंशमें कहीं भी, कुछ भी तुलना ही नहीं है। तत्त्वतः और स्वरूपतः दोनों परस्पर सर्वथा विपरीत तथा भिन्न विषय वस्तु हैं। लौकिक शृङ्गार होता है—काममूलक, कामकी प्रेरणासे निर्मित। इन्द्रिय-तृप्तिकी स्थूल या सूक्ष्म कामना-वासना ही उसमें प्रधान हेतु होती है।

यहाँ साधारण नायक-नायिकाके शृङ्गार-रसकी तो बात ही नहीं करनी चाहिये। उच्च-से-उच्चतर पूर्णताको पहुँचा हुआ दाम्पत्य प्रेमका शृङ्गार भी अहंकार-मूलक, सुतरां कामप्रेरित होता है; वह स्वार्थपरक होता है; उसमें निज सुखकी कामना रहती है। इसीसे इसमें और उसमें उतना ही अन्तर है, जितना प्रकाश और अन्धकारमें होता है। यह विशुद्ध प्रेम है और वह काम है। मनुष्यके आँख न होनेपर तो वह केवल दृष्टिशक्तिसे हीन—अन्धा होता है, परंतु काम तो सारे विवेकको ही नष्ट कर देता है। इसीसे बँगलाके एक पयारमें कहा गया है—**'काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर'**—काम अन्धतम है, प्रेम निर्मल-सूर्य है। इस काम तथा प्रेमके भेदको भगवान् श्रीराधा-माधवकी कृपासे उनके विरले प्रेमी भक्त वैसे ही जानते हैं, जैसे अनुभवी रत्न-व्यापारी जो हरी काँच तथा असली हीरेको पहचानते और उनका मूल्य जानते हैं। काम या काममूलक शृङ्गार इतनी भयानक वस्तु है कि वह केवल कल्याण-साधनसे ही नहीं गिराता, बल्कि सर्वनाश कर डालता है। कामकी दृष्टि रहती है अधः इन्द्रियोंकी तृप्तिकी ओर एवं प्रेमका लक्ष्य रहता है उर्ध्वतम सर्वानन्दस्वरूप भगवान्के आनन्दविधानकी ओर। यह स्मरण रखना चाहिये कि योग्य अधिकारी ही इस श्रीराधारानीके दिव्य शृङ्गार-राज्यमें प्रवेश कर सकते हैं। इस दिव्य प्रेम-जगत्में प्रवेश करते ही एक ऐसे अनिर्वचनीय, परम दुर्लभ, विलक्षण दिव्य चिदानन्दमय रसकी उपलब्धि होती है कि उससे समस्त विषय-व्यामोह तो सदाके लिये मिट ही जाते हैं, दुर्लभ-से-दुर्लभ दिव्य देवभोगोंके आनन्दसे ही नहीं, परम तथा चरम वाञ्छनीय ब्रह्मानन्द-से भी अरुचि हो जाती है। श्रीराधा-माधव ही उसके सर्वस्व होकर उसमें बस जाते हैं और उसको अपना स्वेच्छा-संचालित लीलायन्त्र बनाकर धन्य कर देते हैं।

ये श्रीराधारानी अनादि हैं। इनका प्राकट्य भी भगवान्के प्राकट्यकी भाँति सदा दिव्य लोकोत्तर रूपमें हुआ करता है। यह न कौतुक है न तमाशा है; न मनोरञ्जनकी वस्तु है और न यह काव्यकलाके कल्पना-काननके किसी सुगन्धित सुमनकी कल्पित छाया है। यद्यपि श्रीराधारानी सकल कलाओंकी प्रसविनी हैं, निखिल ललित कलामयी हैं, निर्मल संगीत-सौन्दर्य-कला-विलासकी जीती-जागती प्रतिमा हैं, अनन्त विश्वब्रह्माण्डके 'समष्टिमन'-रूप भगवान् श्रीकृष्णके मनको मोहित तथा रञ्जित करनेवाली हैं, परमकौतुकमयी हैं, तथापि इनका यह सभी कुछ दिव्य है। श्रीराधारानीके प्रेमराज्यमें प्रवेश करनेवाले परम भाग्यवान् लोग ही इसका अनुभव कर सकते हैं। श्रीराधारानी या उनकी कायव्यूहरूपा

किन्हीं व्रजदेवी अथवा श्रीराधारानीके अभिन्न स्वरूप, उनके नित्य आराध्य और नित्य आराधक श्रीकृष्णकी कृपासे ही उसमें प्रवेश पाया जा सकता है और उनकी कृपासे ही अनुभूति भी हो सकती है।

श्रीराधाभाव दिव्यातिदिव्य प्रेम-माधुर्य-सुधारसका एक अगाध उन्नत असीम महासमुद्र है। उसमें नित्य नयी-नयी अनन्त दिव्य अमृतमयी मधुरिमा तथा महिमामयी अनन्त वैचित्र्यमय महातरङ्गें उठती रहती हैं। यह आजका राधाभावका दिग्दर्शन भी राधाभाव महासागरकी किसी एक तरङ्गका सीकरमात्र है। प्रातः-स्मरणीय आचार्यों तथा प्रेमी महात्माओंने उनके जो विभिन्न रूपोंके दर्शन और वर्णन किये हैं, वे सभी सत्य हैं। श्रीराधाके असीम तथा उन्नत महिमामय स्वरूप एवं तत्त्वकी, उनके आनन्द और प्रेमकी, उनके श्रीकृष्ण-मिलन और विरहकी व्याख्या मुझ-सरीखा तुच्छ जीव कैसे कर सकता है। उनकी एक-एक तरङ्गमें अनन्तकालतक निवास तथा विचरण किया जा सकता है। श्रीराधा जगज्जननी महाशक्ति एवं महामाया हैं। श्रीराधा श्रीकृष्ण-की शक्ति हैं। यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीराधा सबकी आराध्य हैं, श्रीराधा अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं। उनकी दुर्ज्ञेय महिमाको तो बस एकमात्र श्रीकृष्ण ही जानते हैं।

हरिकथामृत-सार

[कन्नड़-कवि श्रीजगन्नाथदासविरचित—'हरिकथामृतसार' का गद्यानुवाद]

(अनुवादक—डॉ० ए० कमलनाथजी 'पङ्कज')

वर्षाका पानी जबतक गलियोंमें बहता है, तबतक वह स्नान-पानके योग्य नहीं रहता, पर वही जब गङ्गा नदीमें जा मिलता है, तब सादर शिरोधार्य बन जाता है।

इसी प्रकार करुणासागर भगवान् हैं—जो लक्ष्मीजीकी स्तुतियोंसे भी वशीभूत नहीं होते, वे भगवान् अपने चरणोंका सतत ध्यान करनेवाले भक्तोंके वशमें हो जाते हैं। वे वैकुण्ठको भी छोड़ सकते हैं, पर अपने भक्तोंको नहीं छोड़ सकते। वे स्वयं कहते हैं—

'भक्तानां हृदयं त्वहम्।'

जो भगवान् मन एवं वचनसे परे हैं, वे सदा अपने भक्तोंका अनुसरण करते रहते हैं। जिस प्रकार गाय बँधे हुए अपने बछड़ेके पास दौड़कर आती है, उसी प्रकार भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंके पास दौड़कर आते हैं। उनकी यह भक्तवत्सलता प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार भगवान्ने अर्जुनको अपना निज स्वरूप दिखाकर आत्मगति प्रदान की थी, उसी प्रकार जो परम भक्तिसे हरिकी उपासना करते हैं, उनके लिये वे अपने आपको समर्पित करते हैं। जिस प्रकार भगवान्ने दुर्योधनको दुर्गति दी थी, उसी प्रकार जो तामसी जीव भगवान्की उपासना करके व्ययरूपी धर्मार्थ-कामकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें वे दुर्गति प्रदान करते हैं।

चतुर्मुख ब्रह्माके रूपमें होकर वे ही जगकी सृष्टि करते हैं, विष्णुरूपमें जगका संरक्षण करते हैं और वे ही रुद्ररूपमें रहकर लोगोंका संहार करते हैं। श्रीहरि सब लोगोंमें रहकर सब कामोंको स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं, किसीमें रहकर क्रीड़ा करते हैं तो किसीमें रहकर देखते हैं। किसीमें रहकर याचना करते हैं तो किसीमें रहकर दान करते हैं। किसीमें रहकर चकित करनेवाली बातें कहते हैं तो किसीमें रहकर उन्हें सुनते हैं। शरणमें आये लोगोंके लिये वे कल्पवृक्ष हैं। वे सदा-सर्वदा दया करनेवाले हैं। वे इच्छित पदार्थ प्रदान करते हैं।

भक्तोंके बुलानेमात्रसे उनके पास आकर उनकी रक्षा करते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**'—इसका वे सदा ध्यान रखते हैं।

बालक अपनी माँको न पाकर व्याकुल होकर, उसे पुकारते हुए इधर-उधर ढूँढ़ता है। अँधेरे कमरेमें छिपी माँ उसकी व्याकुलताको कुछ देर देखकर उसके पास जाती है और उसके गालोंपर हाथ फेरकर, पीठ थपथपाकर सीनेसे लगाकर उसकी व्याकुलता दूर करती है। उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंके हृदय-मन्दिरमें छिपकर राम-कृष्णादि नामोंसे बुला रहे आर्त भक्तोंको देखकर प्रसन्न होते हैं और कुछ देर उनकी परीक्षाकर उनके निकट आकर उनकी भव-भीतिको दूर करते हैं। (भगवान्‌की वत्सलता माँकी वत्सलतासे भी बढ़कर होती है।)

पुण्डरीकने जब भगवान्‌को बैठनेके लिये भक्तिपूर्वक ईंट दिया तब प्रसन्न होकर वे पुण्डरीकके अधीन हो गये। सुदामाने जब भगवान्‌को मुट्ठीभर चिउड़ा दिया, तब उन्होंने सुदामाको सकल पुरुषार्थ प्रदान किये। भरी सभामें जब शिशुपालने भगवान्‌को जार-चोर कहकर मर्मभेदी बातोंसे उनकी निंदा की तब भगवान्‌ने उसके अपराधोंपर ध्यान न देकर उसे अपने उदरमें रख लिया। जिस प्रकार सर्प भूमिमें गड़े धनकी रक्षा करता है उसी प्रकार लक्ष्मी-पति अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं। जैसे सर्प उस धनकी रक्षा निश्छल भावसे (स्वार्थ-रहित रूपसे) करता हुआ स्वयं निरपेक्ष रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌की भी कोई अपेक्षा नहीं रहती। वे निष्काम रहकर संरक्षण-कार्य करते हैं। संसारमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं।

बालककी तोतली एवं मीठी बातें सुनकर जिस प्रकार माँ आनन्दित होती है, उसी प्रकार भगवान् नारायण अपने भक्तोंकी स्तुति सुनकर प्रसन्न होते हैं। यदि कोई भक्तोंकी निन्दा करता है अथवा अपमान करता है तो वे उसे सहन नहीं करते। दुर्योधन भक्तोंकी निन्दा किया करता था, इसलिये भगवान्‌ने उसके घर पूजा तथा प्रसाद स्वीकार न कर, विदुरके घर शाकका आतिथ्य स्वीकार किया और दुर्योधनके अभिमानका हरण किया। इस प्रकार भगवान् अपने भक्तोंका अपमान करनेवालोंका गर्व हरते हैं।

जो लोग भगवान्‌के नामका स्मरण करते हैं, भगवान् उनके अपराधोंका विस्मरण कर देते हैं। भगवान्‌से पाये पदार्थोंको ही जो लोग भक्तिपूर्वक उन्हींको समर्पित करते हैं, उन पदार्थोंको अनन्त गुण अधिक करके वे भक्तोंको बदलेमें दे देते हैं और उन्हें आनन्दसागरमें विहार कराते हैं।

इस जगमें यदि राजा किसीपर संतुष्ट हो जाता है तो वह उसे धन, वाहन, वसन, आभूषणादि देता है, पर उदार-से-उदार राजा भी अपना घर तथा अपना शरीर किसीको नहीं देता। परंतु श्रीभगवान् अनवरत ध्यान करनेवाले अपने भक्तोंपर प्रसन्न होकर उन्हें अनन्तानादि अपने निलयोंमें रखकर सेवकोंकी भाँति उनके अधीन रह जाते हैं। यही उसकी महत्ता है, यही उनकी भगवत्ता है।

पापकर्मोंको सहन करनेमें, लक्ष्मीपतिके समान और कोई देव इस ब्रह्माण्डमें नहीं दिखायी देता। भृगुने विष्णुके वक्षःस्थलपर लात मारी, रुद्रने हरिसे युद्ध किया, इन्द्रने गोकुलपर अतिवृष्टि की, पर इन सब महापराधोंको भगवान्‌ने क्षमा कर दिया। वस्तुतः वे '**क्षमया पृथिवीसमः**' हैं।

कामधेनु, कल्पतरु और चिन्तामणि—ये तीनों श्रीहरिकी अन्तः-प्रेरणासे स्वर्गलोकमें सेवा करनेवालोंको ही इच्छित फल प्रदान करते हैं, पर मुकुन्दका परम मंगल नाम नरकस्थ जीवोंको पाप-पङ्कसे निकालकर

पुण्य-लोक प्रदान करता है और पामरोंको पण्डित बनाकर पुरुषार्थ प्रदान करता है।

माता-पिता अपनी संतानपर आये भयको दूरकर उसकी इच्छित वस्तुएँ देकर उसे शान्त करते हैं, उसी प्रकार भगवान् आगे-पीछे, दायें-बायें, भीतर-बाहर हर जगह आकाशकी तरह व्याप्त रहकर अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं।

शरीरकी छायाकी तरह परमात्मा सदा हमारे ही साथ रहते हैं। आधी घड़ीके लिये भी वे हमारा साथ नहीं छोड़ते, इस प्रकार वे पाप-समूहको हमारे पास आनेसे रोकते हैं।

जो लोग भगवान्‌का ध्यान करना छोड़ देते हैं, उन्हें भगवान् भव-पाशसे बाँध देते हैं। जो लोग भक्ति-पाशसे भगवान्‌को बाँध देते हैं, उन्हें भगवान् भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

भगवान् उत्तम, मध्यम और अधम जीवोंकी रक्षा विभिन्न प्रकारसे करते हैं। जिस प्रकार पलकें आँखोंकी सदा रक्षा करती रहती हैं उसी प्रकार भगवान् उत्तमाधिकारियोंकी रक्षा सदा करते रहते हैं। जिस प्रकार शरीरमें खुजली उठनेपर ही हाथ सहायताके लिये जाते हैं, उसी प्रकार मध्यमाधिकारियोंपर कष्ट आनेपर ही भगवान् उनकी सहायता करते हैं। जिस प्रकार दाँत पके फलोंको काटकर, चबाकर, जिह्वाको रस प्रदान करते हैं, उसी प्रकार काल-व्यवधान-से भगवान् अधम जीवोंकी भी रक्षा करते हैं। ऐसे भगवान्‌को जो भजते हैं, उनकी रक्षा वे सदा करते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

शेर भी अहिंसक एवं हरि-भक्त बन गया !

गढ़मण्डलके राजा पीपाजी राज-काज छोड़ रामानन्द स्वामीके शिष्य बने और उनकी आज्ञासे द्वारकामें हरिदर्शनार्थ गये। दर्शन करके जब वे अपनी पत्नीसहित लौट रहे थे तो रास्तेमें उन्हें एक महाव्याघ्र मिला। रानी शेरको देख कातर हो उठी। राजाने उसे समझाया—'अरी! घबराती क्यों है? गुरुदेवने सर्वत्र हरिरूप देखनेका जो उपदेश दिया था, उसे क्या भूल गयी? मुझे तो इसमें हरिरूप ही दीख रहा है। हरिसे भय कैसा!' रानी कुछ आश्वस्त हुई। राजाने अपने गलेसे तुलसी-माला निकाल व्याघ्रके गलेमें डाल दी और उसे कृष्णमन्त्रका उपदेश देते हुए कहा—'मृगेन्द्र! इसे जपो, इसीके प्रतापसे वाल्मीकि, अजामिल, गजेन्द्र—सभी तर गये।' राजाकी निष्ठा और सर्वत्र भगवद्दृष्टि शेरपर भी काम कर गयी। उसने मूकभावसे उनका उपदेश ग्रहण किया और विनयावनत हो चला गया। पीपाजी भी सपत्नीक वहाँसे गन्तव्यको चले गये।

कहते हैं कि सात दिनोंतक शेर जंगलमें घूमता, मांस त्यागकर सूखे पत्ते चबाता और हरि-नामका जप करता रहा। अन्तमें उसने हरि-भजन करते हुए प्राण त्यागे। दूसरे जन्ममें वही व्याघ्र जूनागढ़का सुप्रसिद्ध परम हरिभक्त नरसी (नरसिंह) मेहता हुआ।

(भक्तिविजय, अध्याय २६)

गीताका कर्मयोग—१५

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ८, पृष्ठ-संख्या ३०४ से आगे]

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

(गीता ३ । १२)

भावार्थ—'यज्ञसे भावित हुए अर्थात् अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करनेके लिये बाध्य हुए देवता भी तुमलोगोंको बिना माँगे ही कर्तव्य-कर्म करनेके लिये आवश्यक सामग्री देते रहेंगे । इस प्रकार उन देवताओंसे प्राप्त हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य स्वयं ही उसका उपभोग करता है अर्थात् केवल अपने लिये ही उसे काममें लगाता है, वह चोर ही है ।'

किसी भी मनुष्यका जीवन (चाहे वह गरीब-से-गरीब हो अथवा धनी-से-धनी राजा-महाराजा ही क्यों न हो) दूसरों अर्थात् पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, पितर और देवता आदिकी सहायता लिये बिना नहीं चल सकता; कारण कि कोई भी एक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता । इसलिये जिनसे उपकार पाया है और पा रहा है उन अन्य प्राणियोंकी सेवा करना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है और उनकी सेवा न करना उसकी कृतघ्नता है ।

जो मनुष्य प्राप्त हुई वस्तुओंसे दूसरोंकी सेवा न करके स्वयं अकेला ही उनका उपभोग करता है, ऐसे अपने कर्तव्य-कर्मसे च्युत हुए व्यक्तिको भगवान् चोरकी उपाधि देकर उसकी भर्त्सना करते हैं ।

अन्वय—

हि, यज्ञभाविताः, देवाः, वः, इष्टान्, भोगान्, दास्यन्ते; तैः, दत्तान्, यः, एभ्यः, अप्रदाय, भुङ्क्ते, सः, स्तेनः, एव॥१२॥

पद-व्याख्या—

हि यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते— क्योंकि अपने यज्ञमय कर्तव्यसे भावित देवता तुम (मनुष्य) लोगोंको (बिना माँगे ही) यज्ञ (कर्तव्य-पालन) करनेके समस्त भोग (आवश्यक सामग्री) देते रहेंगे ।

कर्तव्यको सिद्ध करनेके यहाँ भी 'इष्टभोग' शब्दका अर्थ इच्छित पदार्थ नहीं हो सकता; कारण कि पूर्व श्लोक (गीता ३ । ११) में विधेय परम कल्याण है और उसके हेतुके लिये यह अगला (गीता ३ । १२) श्लोक है । भोगोंकी इच्छा रहते परम कल्याण कभी हो ही नहीं सकता । अतः यहाँ 'इष्ट' शब्द 'यज्' धातुसे निष्पन्न होनेसे तथा भोग शब्दका अर्थ आवश्यक सामग्री होनेसे इसका अर्थ होगा—कर्तव्य-कर्म करनेकी सिद्धिकी आवश्यक सामग्रीको वे देवता तुमलोगोंको देंगे।

यहाँ **'यज्ञभाविताः देवाः'** पदका तात्पर्य है—अपने ही कर्तव्य-कर्मसे प्रेरित देवता । इसका यह तात्पर्य है कि देवता तो अपना अधिकार समझकर मनुष्योंको आवश्यक सामग्री प्रदान करते ही हैं, केवल मनुष्योंको ही अपना कर्तव्य निभाना है । देवता अपने दायित्वसे बाध्य होकर मनुष्योंको कर्तव्य करनेकी सामग्री देते ही रहेंगे।

सृष्टिके आदिकालमें प्रजापति ब्रह्माजीने प्राणियोंके लिये यज्ञ (कर्तव्य-पालन) की उपयोगी वस्तुओंके सहित उनकी रचना की अर्थात् उन्होंने यथायोग्य आवश्यक सामग्री बिना माँगे ही पूर्णरूपसे पहलेसे ही

१—'भुज्—पालनाभ्यवहारयोः' (७ । १७)—भुज् धातुके पालन और अभ्यवहार (भोजन या भक्षण) अर्थ होते हैं । प्रकृतमें पालन अर्थ लेना ही उचित लगता है ।

दे दी है। इस प्रकार वे तो अपने कर्तव्यका पालन कर ही रहे हैं। अब केवल मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। यह बात 'वः' पदान्तर्गत चतुर्थी विभक्तिमें छिपी हुई है। अपने लिये स्वार्थकी भावना न रखकर जहाँ केवल देनेकी भावना है, उसमें चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग होता है, जिसे सम्प्रदानकारक कहते हैं। देनेकी प्रधानतामें इस विभक्तिका प्रयोग किया गया है। यहाँ भाव है कि और बढ़िया विहित वस्तुका ही दान देना चाहिये; क्योंकि जिसे हम अपने काममें न ले सकें, उसे दूसरोंको भी देनेका अधिकार नहीं है।

तैः दत्तान् यः एभ्यः अप्रदाय भुङ्क्ते—(इस प्रकार) उन (देवताओं) के द्वारा प्राप्त हुई कर्तव्य-कर्मकी सामग्रीको जो पुरुष उन (देवताओं)को बिना दिये स्वयं भोगता है अर्थात् अपने काममें लाता है।

'एतत्'शब्द प्रायः अतिनिकटको बतानेके लिये प्रयुक्त होता है। ब्रह्माजीने देवताओंके लिये **'तत्'** (**ते देवाः**) शब्दका प्रयोग किया है। भगवान्‌के लिये तो सभी निकट ही हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि अब यहाँसे भगवान्‌के वचन प्रारम्भ होते हैं।

यहाँ **'भुङ्क्ते'**[1]पदका तात्पर्य केवल भोजन करनेसे ही नहीं है, अपितु शरीर-निर्वाहकी आवश्यक समस्त सामग्री (भोजन, वस्त्र एवं मकान आदि)को अपने सुखके लिये काममें लानेसे है।

यह शरीर माता और पितासे मिला है एवं उसका पालन-पोषण भी उन्हींके द्वारा हुआ है। विद्या गुरुजनोंसे मिली है। इसी प्रकार हमारे पास जो कुछ भी सामग्री—बल, योग्यता, पद, अधिकार, धन और सम्पत्ति आदि हैं, वे सब-की-सब हमें संसार (दूसरों)से मिली हैं। देवता कर्तव्य-कर्मकी सामग्री सभीको देते हैं। ऋषि सबको ज्ञान देते हैं। पितर सबका भरण-पोषण करते हैं। मनुष्य कर्मोंके द्वारा एक दूसरेकी सेवा करते हैं और पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि दूसरोंके सुखमें स्वयंको समर्पित कर देते हैं। यद्यपि पशु-पक्षी, तथा वृक्ष आदिको यह ज्ञान नहीं रहता कि हम परोपकार कर रहे हैं, परंतु उनसे दूसरोंका उपकार स्वतः होता रहता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि सभी पदार्थ हमें दूसरोंसे मिले हुए हैं। ये कभी 'अपने' नहीं हैं और अपने होंगे भी नहीं। अतः इन्हें अपना मानकर तथा इनमें ममता, आसक्ति करके सुख भोगना ही बन्धन है। इस बन्धनसे छूटनेका यही सरल उपाय है कि जिनसे ये पदार्थ हमें मिले हैं, इन्हें उन्हींका मानते हुए उन्हींकी सेवामें लगा दें—यही हमारा परम कर्तव्य है।

साधकोंके मनमें प्रायः ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि यदि हम संसार तथा परिवारके साथ रहेंगे एवं उनकी सेवा करेंगे तो उनमें हमारी आसक्ति हो जायगी और हम संसारमें फँस जायँगे, किंतु भगवान्‌के वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि फँसनेका कारण सेवा नहीं है, अपितु अपने लिये कुछ भी लेनेका भाव ही है। इसलिये लेनेका भाव त्यागकर देवताओंकी तरह दूसरोंको सुख पहुँचाना ही मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

कर्मयोगके सिद्धान्तमें अपने पास प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, समय तथा समझदारीका सदुपयोग करनेका विधान है। नयी-नयी सामग्री आदिकी कामना करना इसके विरुद्ध है। युक्तिसङ्गत बात है कि जिसमें जितनी शक्ति होती है, उससे कर्म करनेकी उतनी ही आशा की जाती है; फिर भगवान् अथवा देवता इससे अधिककी आशा कैसे कर सकते हैं?

१—अनवनार्थक भुज् धातुसे 'भुङ्क्ते' पद निष्पन्न है। अनवनका अर्थ—अरक्षण है, अर्थात् अपने लिये सामग्रीका उपयोग करनेसे सामग्रीकी रक्षा नहीं है। इसी भावको द्योतित करनेके लिये 'भुङ्क्ते' पद है।

सः स्तेन एव—वह चोर ही (है)।

'**सः स्तेनः**'पदमें एकवचन देनेका तात्पर्य यह है कि अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाला मनुष्य ऐसा कृतघ्न होता है जो सबको प्राप्त होनेवाली सामग्री (अन्न-जल आदि)का भाग (बिना दूसरोंको दिये ही) अकेला स्वयं ले लेता है; अतः वह चोर ही है।

जो दूसरोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले ही भोग करता है, वह तो चोर है ही, पर जो मनुष्य किसी भी अंशमें अपना स्वार्थ सिद्ध होनेकी इच्छा रखता है अर्थात् सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाकर उनसे मान-बड़ाई आदि चाहता है वह भी चोर ही है; क्योंकि सामग्रीको व्यक्तिगत न मानकर जिनके निमित्त की थी उनकी सेवामें लगा दी। अतः मान-बड़ाईकी चाह करना भूल ही है। अपने कर्तव्यसे च्युत मनुष्यका अन्तःकरण कभी शान्त नहीं रह सकता।

द्वन्द्व मिटानेका उपाय—यह व्यष्टि-शरीर किसी भी प्रकारसे समष्टि संसारसे भिन्न नहीं है, हो सकता भी नहीं। समष्टिका ही अंश व्यष्टि कहलाता है। शरीर (व्यष्टि)को अपना मानना और संसारको अपना न मानना ही द्वन्द्व (राग-द्वेष आदि) का कारण है एवं यही अहंकार व्यक्तित्व अथवा विषमता है। कर्मयोगके अनुष्ठानसे ये सब (द्वन्द्व आदि) सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं; क्योंकि कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, वह सब अपने लिये नहीं, अपितु संसारमात्रके लिये कर रहा हूँ। इसमें भी एक अत्यन्त मार्मिक बात यह है कि कर्मयोगी सभी कर्म (एकान्तमें जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि भी) अपने कल्याणके लिये न करके संसारमात्रके कल्याणके लिये (अर्थात् 'संसारमात्रका कल्याण हो'—इस उद्देश्यसे) करता है। सबके कल्याणसे अपना कल्याण अलग मानना भी द्वन्द्व, अहंकार, पार्थक्य और विषमताको जन्म देना है, जो साधकके लिये बाधक बनते हैं। कारण यह है कि हमारे पास शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जो कुछ भी है, वह सब-का-सब हमें संसारसे मिला है। अतः संसारकी वस्तुको केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धिमें लगाना उचित नहीं है।

कुछ ज्ञातव्य विशेष बातें—हिंदू संस्कृतिका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यका कल्याण करना है। इसी उद्देश्यसे ब्रह्माजी (सृष्टिके आदिमें) मनुष्योंको निःस्वार्थ-भावसे अपने-अपने कर्तव्यके द्वारा एक-दूसरेको सुख पहुँचानेकी आज्ञा देते हैं (गी० ३। १०)।

घरोंमें भाई, बहनें, माताएँ और बच्चे आदि सब-के-सब कर्म करते ही हैं, परंतु उनसे बड़ी भारी भूल यह होती है कि वे आसक्ति, कामना और स्वार्थके वशीभूत होकर कर्म करते हैं। अतः लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही लाभ उन्हें नहीं होते, प्रत्युत हानि ही होती है। स्वार्थ (अपने लिये कर्म करने) से ही समस्त विपत्तियाँ आती हैं। दूसरोंकी सेवा करके बदलेमें कुछ भी चाहनेसे वस्तु और व्यक्तियोंके साथ मनुष्यका सम्बन्ध जुड़ जाता है। किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाते हैं। स्वार्थी मनुष्यको संसारमें कोई अच्छा नहीं कहता। चाहनेवालेको कोई अधिक देना नहीं चाहता। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि घरमें भी रागी तथा भोगी व्यक्तिसे वस्तुएँ छिपायी जाती हैं। इसके विपरीत हमारे पास जितनी समझ, समय, सामर्थ्य और सामग्री है, उतनेसे ही हम दूसरोंकी सेवा करें तो उससे कल्याण तो होता ही है, इसके अतिरिक्त वस्तु, आराम, मान-बड़ाई तथा आदर-सत्कार आदि न चाहनेपर भी प्राप्त होने लगते हैं—यद्यपि कर्मयोगीके लिये ये वाञ्छनीय नहीं होते।

'मुझे सुख कैसे मिले ?' केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है। अतः 'दूसरोंको सुख कैसे मिले ?'—ऐसा भाव कर्मयोगीको सदैव रखना चाहिये। घरमें माता-पिता, भाई-बहन और स्त्री-पुत्र आदि जितने व्यक्ति हैं, उन सभीको एक दूसरेके हितकी बात सोचनी चाहिये। प्रायः सेवा करनेवालेसे एक भूल हो जाती है कि वह 'मैं सेवा करता हूँ', 'मैं वस्तुएँ देता हूँ'—ऐसा मानकर झूठा अभिमान कर बैठता है। वस्तुतः सेवा करनेवाला व्यक्ति सेव्यकी वस्तु ही सेव्यको देता है। जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही होता है, वैसे ही मनुष्यके पास जितनी भी सामग्री है, वह उसके लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है। अतएव अपने पास प्राप्त सामग्रीमें ममता करने (उसे अपना मानने) का अधिकार मानना अवाञ्छनीय है। ममता करनेपर भी प्राप्त सामग्री तो सदा रहेगी नहीं, केवल ममतारूप बन्धन रह जायगा। इसी कारण भगवान् कहते हैं कि वस्तुओंको अपना मानकर स्वयं उनका भोग करनेवाला मनुष्य चोर है।

देवता, ऋषि, पितर, पशु-पक्षी, वृक्ष और लता आदि सभीका स्वभाव ही परोपकार करनेका है। मनुष्य सदा इनसे सहयोग पानेके कारण इनका ऋणी है। इस ऋणसे मुक्ति-हेतु मनुष्यके लिये पञ्च महायज्ञ (ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ) का विधान है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो बुद्धिपूर्वक सभीको अपने कर्तव्य कर्मोंसे तृप्त कर सकता है। अतः सबसे अधिक उत्तरदायित्व मनुष्यपर ही है। इसीको ऐसी स्वतन्त्रता मिली है, जिसका सदुपयोग करके यह परम श्रेयकी प्राप्ति कर सकता है।

संसारके प्राणियोंके हितार्थ जो चाहिये, उसमें देवता आदि कमी नहीं करते हैं; फिर भी यदि मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता है तो देवताओंमें ही नहीं अपितु त्रिलोकीभरमें हलचल उत्पन्न हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प तथा दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक प्रकोप होने लगते हैं। श्रीभगवान् भी कहते हैं कि 'यदि मैं सावधानीपूर्वक कर्मयोगका आचरण न करूँ तो समस्त लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ।[1] जिस प्रकार गतिशील रेलगाड़ीमें अनेक पहिये हैं और उनकी ही सहायतासे वह दौड़ती रहती है, किंतु यदि कोई एक पहिया भी खण्डित हो जाय तो उससे पूरी रेलगाड़ीको झटका लगता है, उसी प्रकार गतिशील सृष्टिचक्रमें यदि एक व्यक्ति भी कर्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टिपर पड़ता है[2]। इसके विपरीत अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेवाला मनुष्य एक प्रकारसे सम्पूर्ण सृष्टिका उपकार करता है।

देवता और मनुष्य इन दोनोंमें कर्म करनेकी प्रधानता है। अतः प्रजापति ब्रह्माजीने इन्हें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता देकर अपने-अपने कर्तव्यके पालन करनेकी आज्ञा दी है। प्रकृति, देवता आदि सब मर्यादासे चलते हैं। केवल मनुष्य ही मूर्खतावश मर्यादाको भंग कर देता है। कारण, उसे दूसरोंकी सेवा करनेके लिये जो सामग्री मिली है, उसपर वह अपना अधिकार समझकर भारी भूलका पात्र बन जाता है। अनन्त जन्मोंके कर्म-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये मनुष्यको स्वतन्त्रता मिली है, किंतु वह उसका दुरुपयोग करके भोगोंमें आसक्ति कर बैठता है। फलस्वरूप नया बन्धन उत्पन्न कर वह स्वयं फँस जाता है और आगे अनेक जन्मोंतक दुःख पानेकी तैयारी कर लेता है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि उसे जो कुछ सामग्री मिली है, उससे वह त्रिलोकीकी

१—गीता ३। २३-२४

२—वाल्मीकिरामायण (उत्तरकाण्ड ७३, ७६) में आये हुए 'शम्बूक-वध-प्रसङ्ग' से भी इसी तथ्यकी पुष्टि होती है।

*

सेवा करे अर्थात् उसे जो सामग्री प्राप्त है, उसको वह भगवान्, देवता, ऋषि, पितर तथा मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंकी सेवामें लगा दे ।

शङ्का—मनुष्यको जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है, वह सब-की-सब दूसरोंकी सेवामें लगा देनेपर उसका अपना जीवन-निर्वाह कैसे हो सकेगा ?

समाधान—जबतक भोगेच्छा रहती है तभीतक जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय रहता है । भोगेच्छा कर्मयोगीमें रहती ही नहीं; क्योंकि उसके सम्पूर्ण कर्म अपने लिये न होकर दूसरोंकी सेवाके लिये ही होते हैं । अतः कर्मयोगी अपने जीनेकी अपेक्षा नहीं करता । उसके अन्तःकरणमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि 'मेरा जीवन-निर्वाह कैसे होगा ?' वास्तवमें जिसके हृदयमें जगत्की आवश्यकता नहीं रहती, उसकी जगत्को आवश्यकता रहती है । इसलिये जगत् उसके निर्वाहका स्वतः प्रबन्ध करता है ।

जिनका जीवन परोपकारके लिये ही समर्पित है ऐसे पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष, लता आदि सभी साधारण प्राणियोंके भी जीवन-निर्वाहका जब प्रबन्ध है, तो शरीर-सहित मिली हुई सब-की-सब सामग्रियोंको प्राणियोंके हितमें व्यय करनेवाले मनुष्यके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध न हो, यह कैसे सम्भव है ?

जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी असीम कृपासे जीनेकी सामग्री समस्त प्राणियोंको समान रूपसे मिली है । इसका उदाहरण प्रत्यक्ष रूपसे सबके सामने है । माँके शरीरमें रक्त-ही-रक्त रहता है । वहाँ बच्चेको जीवनके लिये मीठा और पुष्टिकर दूध स्वतः उपलब्ध हो जाता है । अतएव चाहे प्रारब्धसे कहो या भगवत्कृपासे कहो मनुष्यके जीवन-निर्वाहकी सामग्री उसको मिलती ही है । इसमें संदेह, चिन्ता, शोक एवं विचार होना ही नहीं चाहिये । पापी-से-पापी एवं नास्तिक-से-नास्तिकका भी जब जीवन-निर्वाह होता है, तब कर्मयोगीके जीवन-निर्वाहमें क्या बाधा आ सकती है ? अतः यह प्रश्न उठाना ही भूल है । (क्रमशः)

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

भगवान्ने गीता (९ । २२) में स्वयं कहा है कि जो नित्ययुक्त हैं—लोक-संग्रहमें लगे हुए कर्मयोगी हैं, उनके योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) का वहन मैं स्वयं करता हूँ । इसपर एक शिक्षा-प्रद जनश्रुति महामहोपाध्याय स्व० प्रमथनाथ तर्कभूषण भट्टाचार्यने हिन्दूविश्वविद्यालयके गीताप्रवचनमें सुनायी थी, जो यथास्मृत यहाँ दी जाती है ।

बंगालमें एक नैष्ठिक वानप्रस्थाश्रमी मनीषी ब्राह्मण रहते थे । आये हुए विद्यार्थियोंको गीतादि ग्रन्थ पढ़ा दिया करते थे। एक दिन उनके मनमें आया कि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की जगह 'योगक्षेमं वाहयाम्यहम्' (दूसरोंसे वहन कराता हूँ) समीचीन जँचता है । फलतः उन्होंने गीताकी पंक्तिमें उक्त सुधार कर दिया ।

उस दिन एकादशी थी । पण्डितजी सायंकालीन सन्ध्या करने पासकी नदीके तटपर गये हुए थे। उनकी पत्नी चिन्तामग्न थीं कि आज कहींसे कुछ फलाहार नहीं आया । क्या भोग लगेगा और क्या फलाहार होगा ? इतनेमें ८–१० वर्षका एक श्यामला बालक एक टोकरी फल लेकर ब्राह्मणदेवकी कुटियापर आया और माँको बुलाकर गुरुदेवके फलाहारके लिये है—यह कहकर उसने टोकरी दे दी और लौट गया । माताने बहुत पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है, पर वह बालक उलटे पैर लौटता हुआ कुछ नहीं बोला और एक झाड़ीके ओट होते ही अदृश्य हो गया !

पण्डितजी आये तो सारी बातें ज्ञातकर पश्चात्ताप और ग्लानिसे तब और भर गये जब उनकी पत्नीने यह भी बतलाया कि उस श्यामवर्णके अत्यन्त सुन्दर बालकके कन्धेके चीर जानेसे रक्त बह रहा था । सच है, भगवान् स्वयं योगक्षेमका वहन करते हैं—किसी अन्यसे नहीं कराते; और गीता उनका साक्षात् शरीर है जिसको यथावत् रखकर ही उसका मर्म समझना चाहिये । (गीतामनीषी)

रे मन ! वृन्दा-विपिन निहार

(लेखक—श्रीरामदासजी शास्त्री महामण्डलेश्वर)

श्रीवृन्दावन सामान्य तीर्थ नहीं, सर्वोपरि धाम* है। यह लीलापुरुषोत्तम '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**' (श्रीमद्भा० १।३।२८) की नित्य विहारभूमि है। वृन्दावनधाम क्या है? अनन्तानन्दविग्रह '**रसो वै सः**' परात्पर परब्रह्म लीलाविहारी श्रीकृष्णका नित्य विहारस्थल है। '**यत्र संनिहितो हरिः**' श्रीमद्भागवत (१०।७१।१४)के इस वचनसे प्रमाणित है कि मथुरा-मण्डल (सम्पूर्ण व्रजभूमि)में भगवान् स्वयं नित्य विराजते हैं। व्रजभूमिमें भी श्रीवृन्दावन दिव्य चिन्मय रासलीलाका केन्द्र है—जहाँ आनन्दकन्द रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण, गौ, गोपी, ग्वाल, यशोदानन्द और रासेश्वरीके साथ चित्ताकर्षक रस-लीलाओंमें बँधे रहते हैं।

यह वृन्दावन षड्योजनात्मक अर्थात् चतुर्विंशति कोशकी सीमामें आबद्ध है। इसकी सीमा नन्दग्राम, बरसाना, कामवन, गोवर्धन और वर्तमान वृन्दावन है। वृन्दावनमें बारह वनोंका उल्लेख प्राप्त होता है—जहाँ श्रीकृष्ण नित्य गोचारणके लिये जाते थे। 'गोकुल'-(श्रीवृन्दावनका मूल निवासस्थान) से श्रीवृन्दावन अधिक रमणीय रसप्रद एवं आकर्षक क्रीडा-प्राङ्गण है। तभी तो श्रीकृष्ण गोकुलसे वृन्दावन चले आते हैं, पूतनादि आसुरी उपद्रव तो व्याजमात्र हैं; वास्तवमें नटवर श्रीकृष्णकी वृन्दावन छोड़कर अन्यत्र रुचि ही नहीं है।

यह दिव्य वृन्दाटवी परम सुरम्य है। प्रबोधानन्दजी आदि-ने श्रीवृन्दावनमहिमामृत-जैसे अनेक बृहद्ग्रन्थोंमें इसका गुण गाया है। कल-कलनिनादिनी कालिन्दीके कमनीय कूल, कोमल-कोंपलोंसे घनीभूत कदम्ब, वृक्षोंकी शीतल छाया, शस्य-श्यामला हरितभूमि, श्रीवृन्दावनकी चरणरजका चुम्बन करते—भूमिमें दण्डवत् विलुण्ठित पील्ह वृक्ष, खंडार तथा उद्धव लताएँ, झुरमुटोंके रूपमें समाधिस्थ सन्तोंकी भाँति शान्त करील-कुञ्जोंके कमनीय क्रमक्रमी फल, इठलाती लताओंपर खिले पचरंगी पुष्प-पल्लव—ये सब मिलकर श्रीवृन्दावनके सौन्दर्यको निरन्तर विकसित कर रहे हैं।

समस्त दोषोंसे रहित श्रीवृन्दारण्यमें मनमोहनकी मनोमुग्धकारी लीलाएँ अहर्निश चलती रहती हैं—गोपबालकोंके साथ गोचारण, वन-उपवनोंमें पशु-पक्षियों (बंदर, मयूर, बछड़ों)के साथ बालक्रीड़ाएँ, वनमें ही रासलीला एवं रामलीलाओंके आयोजन, नृसिंह-वाराह आदि अवतारोंके अभिनय, मध्य-मध्यमें असुरोंके साथ युद्ध। इस प्रकार सायंकाल होते-होते जब गौएँ रँभाने लगती हैं तब श्रीकृष्ण-बलराम और गोप-बालक अपनी-अपनी वंशीमें गौओंका नाम ले-लेकर पुकारते हैं—

गङ्गे तुङ्गि हिही पिशाङ्गि धवले कालिन्दि वंशीप्रिये
श्यामे हंसि हिही कुरङ्गि कपिले गोदावरीन्दुप्रभे।
शोणे श्येनि हिही त्रिवेणि यमुने चन्द्रालिके नर्मदे
नामग्राहमयं समाह्वयति गाः प्रेम्णेत्थमीशो गवाम्॥

(आनन्दवृन्दावनचम्पू)

इसके अतिरिक्त एक और वृन्दावन-रसकी अनिर्वचनीय अनुभूति है। वह है—महाभावस्वरूपा, सौन्दर्य-माधुर्यकी अधिष्ठातृ देवी परमाह्लादिका श्रीकृष्णप्राणप्रिया वृषभानुजा श्रीराधा-रानीकी निभृत निकुञ्जोंमें प्रियतम श्रीकृष्णके साथ रसमयी रहस्य-केलि। कोई-कोई निरतिशय भाग्यशाली ही इस कुञ्ज-केलिकिरण-कान्तिके प्रकाशका अनुभव कर पाते हैं। हाँ! यह निश्चित है कि जो ब्रह्म '**रसो वै सः**' से निर्देश्य है, वह इन कुञ्ज-कुटीरोंमें आह्लादिनी अचिन्त्य शक्तिके चरणोंमें लोटता देखा गया है रसखानके शब्दोंमें—

* 'धाम' और 'तीर्थ' में अन्तर है। तीर्थ पवित्र साधनास्थली हैं और 'धाम' साक्षात् श्रीभगवान्‌के निवास-स्थल हैं। तीर्थ पावन तपोभूमि हैं—जहाँ कर्म, ज्ञान, भक्तिके द्वारा लक्ष्य धामको प्राप्त किया जाता है। उनकी संख्या कई सहस्र है, पर धाम इने-गिने हैं।

देख्यौ दुरयौ वह कुंज कुटीरमें,
बैठ्यो पलोटतु राधिका पायन ॥

आनन्दरस-विग्रह-ब्रह्म आराधिका या आराध्य श्रीराधाके महाभावसागरमें डूबने लगता है—तब वह स्वयं राधामय हो जाता है। राधा-परिवेष्टित ब्रह्म स्वयं कह उठता है कि आगे-पीछे, बायें-दायें, पृथ्वीमें, आकाशमें—सर्वत्र राधा-ही-राधा दीख रही हैं। क्या मेरे लिये त्रिलोकी ही राधामयी हो गयी है—

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी ॥
(विदग्धमाधव ५। १८)

भावराज्यकी अकल्पित यह रस-चिन्तना केवल यहाँ श्रीवृन्दावनधाममें ही उपलब्ध है, अन्यत्र वह कष्ट-साध्य एवं सुदुर्लभ है। वृन्दावनकी रस-भूमिमें ही इसका पोषण होता है। इसकी प्राप्तिका साधन भी वृन्दावन-वास ही है। यहाँ साधन-साध्य एक हैं। वृन्दावन स्वयं ही साध्य और साधन है। वृन्दावनकी कृपासे ही वृन्दावनवास मिलता है।

किंतु वृन्दावनमें वास करनेका अधिकारी कौन है ? यह अधिकार प्राप्त करना बड़ा कठिन है। वृन्दावनवासकी योग्यता श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वतीने इस प्रकार बतायी है—

यो व्याघ्रीरिव योषितां विषमिव स्वाद्वन्नमर्थं महा-
नर्थप्रायमसाधुलोकमिलनं सर्वार्थविभ्रंशवत्।
किंचिन्मात्रपरिग्रहं ग्रहमिव स्वात्मेन्द्रियं शत्रुवन्-
मन्येत प्रणयी हरौ स हि वसेत् साध्वत्र वृन्दावने॥
(वृन्दावनमहिमामृत)

जो श्रीहरिका प्रेमी स्त्रीको व्याघ्री, स्वादिष्ट अन्नको विष, धनको महान् अनर्थ, दुष्टसङ्गको सर्वस्व नाश, परिग्रहको दुष्टग्रह और इन्द्रियोंको शत्रुके समान समझता है, वही वृन्दावनमें उत्तम रूपसे वास कर सकता है।

वृन्दावन-वास सभी चाहते हैं। कौन अभागा होगा जो इस स्नेहसिञ्चित रसभूमि—वृन्दावनीमें तन्मय हो जाना न चाहेगा। ब्रह्मादि देव, भगवान् सदाशिव, जगदम्बा लक्ष्मी, शुकादि मुनिगण और साधारण भक्त-कोटिके सभी साधक वृन्दावनकी रजश्रीमें नित्य-निरन्तर लोटना चाहते हैं; क्योंकि इस भूमिमें प्रवेश-मात्रसे ही प्राणिमात्र सत्-चित्-आनन्दघनताको प्राप्त हो जाते हैं—

यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तु-
रानन्दसच्चिद्घनतामुपैति।
(वृन्दावनमहिमामृत, प्रथम शतक)

किंतु इसमें भावप्रवणता ही मुख्य धर्म है। वृन्दावनमें प्रविष्टि पानेवाले साधकको भावाविष्ट होना चाहिये। उद्धवजीको भी सम्भवतः प्रारम्भमें व्रजवासियोंके भावका पता न था। गोपियोंके अन्तर्मनकी दशा देखकर ही वे वृन्दावनवासको लालायित हो उठे और कहने लगे—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

'अहा ! मैं भी वृन्दावनमें गोपियोंकी चरणरजका सेवन करनेवाली—लता, ओषधि, झाड़ियोंमेंसे कोई होता तो धन्य हो जाता।'

श्रीउद्धवजीके ये भाव तब उत्पन्न हुए, जब गोपियोंने बड़े गर्वके साथ कह दिया—उद्धवजी ! आप तो क्या, यहाँ बड़े-बड़े धीर-वीर पुरुष संसार-के द्वन्द्वसे निवृत्त होकर, दीन-दुःखी गृह-कुटुम्बके क्लेशोंका त्यागकर इसी वृन्दावनके पक्षियोंकी भाँति भिक्षावृत्तिके द्वारा जीवन-यापन करते हुए लीलारसमें उन्मत्त पागल बने घूमते रहते हैं !—

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
(श्रीमद्भा० १०। ४७। १८)

गोपीगीत (श्रीमद्भागवत १० । २१ । १४)में गोपियोंने भी यही बात कही है कि इस वनके सभी पक्षी मुनि हैं; क्योंकि दर्शनाभिलाषी ये पक्षी टहनियोंपर बैठे अपलक नेत्रोंसे एकाग्रचित्त हो मधुर वंशी-ध्वनि श्रवण कर रहे हैं—

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
(श्रीमद्भा० १० । २१ । १४)

व्रजाङ्गनाओंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस भूलोकको इस ब्रह्माण्डमें कोई जानता भी नहीं था । जबसे वृन्दावनका अवतार हुआ, तबसे इसकी कीर्ति समस्त लोकोंमें फैल गयी; क्योंकि भगवान् देवकीनन्दनके चरण-स्पर्शसे इसे अपूर्व शोभा प्राप्त हुई है—

'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्'
(श्रीमद्भा० १० । २१ । १०)

आज भी श्रीवृन्दावनकी महिमा कम नहीं है । देश-विदेशके श्रीकृष्णचरणानुरागी खिंचे चले आ रहे हैं । यहाँका पवित्र वातावरण बरबस मनको बाँधे रहता है । घर-घर ठाकुर-पूजा, प्रातः-सायं घंटे-घड़ियाल और शङ्ख-ध्वनिसे गगन-मण्डल गूँज उठता है । हाट-बाटमें कीर्तन करती चलती भक्त-मण्डली, मठ-मन्दिरोंमें कथा, सत्सङ्ग-प्रवचन, कुञ्ज-गलियोंकी चहल-पहल और रासलीलाओंमें रस-वर्षण, सेवा-कुञ्ज-निधि वनके मयूर, बंदर व्रजवासी बालकेन्द्रके मुखमण्डलपर मधुर-मुस्कराहट—ये सभी वृन्दावनकी महिमाशालिनी 'श्री'के शुभ चिह्न हैं । यहाँ रात्रिमें गस्त लगानेवाले चौकीदार 'राधेश्याम' की आवाज लगाते हैं, यमुनाके नाविक भी 'जै जमुना मैया की' कह करके स्नानार्थियों तथा यात्रियोंको सम्बोधित करते हैं । वृन्दावनकी महिमाके विषयमें भक्ति-मती मीराने कितनी मधुर और प्रेमसे सनी वाणीमें क्या ही खूब कहा है—

आली ! मोहि लागे वृन्दावन नीको ।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दर्शन गोविन्दजी को ॥
निरमल नीर बहत जमनामें, भोजन दूध-दही को ।
रतन-सिंघासण आप बिराजै, मुकुट धर्यो तुलसी को ॥
कुंजन-कुंजन फिरति राधिका, सबद सुणत मुरली को ।
मीरा के प्रभु गिरधर-नागर, भजन बिना नर फीको ॥

व्रजके रसिक वाणीकार संतोंने जो वृन्दावनका यशोगान किया है, वह अवर्णनीय है । श्रीचैतन्यमहा-प्रभुके अनुयायी षट् गोस्वामियोंने संस्कृत-काव्योंमें और अष्टछापके कवियों तथा श्रीहरिव्यासदेव, श्रीहरिदासजी, श्रीभट्टजी और श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदायके संतोंने श्रीधाम-महिमाका अद्भुत वर्णन किया है । इस प्रकार भक्त कवियोंने व्रजभाषामें व्रज-महीमण्डलका मनोयोगपूर्वक सरस वर्णन किया है, जिसे पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है

गौड़ीय-सम्प्रदायके श्रीहरिरामजी व्यास, ओड़छा-नरेशके पुरोहित थे । व्यासजीको वापस ले जानेके लिये जब ओरछा-नरेश वृन्दावन आये तो व्यासजीने कहा—'मैं अपने बन्धु-बान्धवोंसे भेंटकर लूँ, तब आपके साथ चलूँ ।' दूसरे दिन प्रातःसे सायंतक श्रीव्यासजी यमुना-तटपर प्रति कदम्ब-वृक्ष, एक-एक लता-वल्लियोंसे रो-रोकर मिलते रहे कि मेरा वृन्दावन-वास मत छुड़ाओ । उनकी अधीरता, अद्भुत व्रज-प्रेम देखकर विवश होकर महाराज उन्हें छोड़कर वापस चले गये । उन्हीं व्यास-जीकी वृन्दावन-वासकी अनन्यभावना उनके ही शब्दोंमें देखिये—

श्रीवृन्दावनके रूख हमारे मात-पिता-सुत-बन्धु ।
गुरु-गोविन्द साधु गति-मति-सुख, फल-फूलन की गन्ध ॥
इनहिं पीठि दै अनत दीठि कर, सो अन्धन में अन्ध ।
'व्यास' इन्हें छोड़े जु छुड़ावै, तापै परै निकन्ध ॥

× × ×

ऐसो कब करिहै मन मेरो ।
कर करवा गुंजनि के हरवा, कुँजनि माँहि बसेरो ॥
व्रजबासिन के टूक-सूखमें, घर-घर छाँछ महेरो ॥
भूख लगै जब माँगि खाउँगो, गिनौं न साँझ-सबेरो ।
इतनी आस, व्यासकी पुजवौ, मेरे खूँट न खेरो ॥

निम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य संत श्री भट्टजी तो वृन्दावनसे बाहर जाकर ब्रह्मदर्शनकी भी अभिलाषा नहीं करते । उनकी दृष्टिमें मात्र वृन्दावन ही सब कुछ है । श्रीवनकी सीमासे बाहर वे चिन्तामणिके लिये भी हाथ नहीं पसारना चाहते । श्रीभट्टजीकी अनन्य भावमयी मान्यता उनके इस पदमें साकार है—

रे मन ! वृन्दाविपिन निहार ।
विपिनराज सीमा से बाहर, हरिहू को न निहार ॥
यद्यपि मिलैं कोटि चिन्तामणि, तदपि न हाथ पसार ।
जै श्रीभट्ट धूलि-धूसर तन, यह आसा उर-धार ॥

वस्तुतः भगवान्‌के समस्त लीलाधामों और तीर्थ-स्थलोंमें तीर्थशिरोमणि श्रीवृन्दावनका अपना विशिष्ट महत्त्व और माहात्म्य है । भगवान् श्रीकृष्णकी लीलास्थली होनेके कारण इसकी अनन्तानन्त महिमा है । इसीलिये यह 'श्रीधाम' या भगवान्‌का 'निज-धाम' कहलाता है । यहाँके सभी तीर्थ चतुर्वर्गफलदाता हैं । यहाँ मुरली मनोहरकी बाँकी-झाँकीके भी दर्शन होते हैं, अतः वृन्दावनका दर्शन भाग्यशालियोंको अपने जीवनमें अवश्य करना चाहिये ।

योगिराज श्रीअरविन्दका पागलपन

(लेखक—डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी 'आनन्द', एम्० ए०, बी-एड्०, व्याकरणाचार्य, पी-एच्० डी०, डी-लिट्०)

सामान्य ऐन्द्रिय धरातलका अतिक्रमण कर उससे उच्चतर स्तरपर चैतन्यके अवतरण होने और बहिर्मुखता-के अपह्नव (तिरोधान)के परिणामस्वरूप व्यक्तिमें कुछ ऐसे विशिष्ट लक्षण दृष्टिगत होने लगते हैं कि उन्हें देखकर कभी ऐसा लगता है कि यह व्यक्ति पागलपनके दौरसे गुजर रहा है । महाप्रभु चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, सुकरात, श्रीसिद्धिमाता, श्रीअरविन्द प्रभृति व्यक्ति इस अवस्थामें पर्याप्त समयतक रहे । अंग्रेज महाकवि शेक्सपियरने ठीक ही कहा था कि—Lunaties, lovers, poets and philosophers are of the same inpaet.' अर्थात् पागल व्यक्ति, प्रेमी, कवि एवं दार्शनिक विद्वान् सभी समतुल्य चेतनास्तर (पागलपन) पर ही आरूढ़ दीखते हैं । इसी दृष्टिसे योगिराज अरविन्द भी एक प्रकारसे पागल ही थे !

विवाहके चार वर्ष बाद अपनी आयुके ३४वें वर्षमें प्रवेश करनेपर ३० अगस्त सन् १९०५को उन्होंने अपनी पत्नी मृणालिनीको पत्र लिखते हुए लिखा था—

'प्रियतमा मृणालिनी !

जिसके साथ तुम्हारे भाग्यका सूत्र जुड़ा हुआ है, वह विचित्र धारणाओंका व्यक्ति है । उसके मनोभाव, जीवनोद्देश्य एवं कर्मक्षेत्र अन्य लोगों-जैसे नहीं हैं, वह कई बातोंमें इनसे बहुत कुछ भिन्न है। असामान्य मानस, असामान्य क्रिया, असामान्य उच्चाकाङ्क्षा इत्यादि पागलपन के अन्तर्गत आते हैं । किंतु कर्मक्षेत्रमें ऐसे व्यक्ति-के द्वारा सफलता अर्जित करनेपर लोग उसे पागल न कहकर प्रतिभावान् महापुरुषकी संज्ञा देते हैं । हजारों व्यक्तियोंमें दस असाधारण लोग ही ऐसे होते हैं और उन दस लोगोंमें भी एक व्यक्ति ही पूर्णतया कृतकार्य हो पाता है । सफलता पाना तो दूसरी बात है, लेखकका तो अभी उस क्षेत्रमें सम्यक् रूपसे अवतरण तक भी नहीं हो पाया है । अतः लोग उसे भी पागल ही समझेंगे । किसी पागलके साथ किसी नारीका सम्बन्ध-सूत्र जुड़ना उसके लिये अभिशाप ही है; क्योंकि नारी-वर्गकी समस्त आशाएँ ऐहिक सुख-दुःखमें ही बद्धमूल रहती हैं । पागल अपनी सहधर्मिणी-को सुख न देकर केवल दुःख ही देता है । इस स्थितिमें नारीको जितनी असह्य वेदनाएँ होती हैं, उनके

निराकरणका क्या उपाय है ? इसीलिये ऋषियोंने निम्न उपाय निश्चित किया—'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्'। इस मन्त्रको ही नारी-जातिका एकमात्र मन्त्र समझना चाहिये। पति जिसे धर्म समझकर ग्रहण करे, पत्नी उसमें सहायता एवं मन्त्रणा देगी तथा पतिको देवता मानेगी, वह उसके सुखमें अपना सुख एवं उसके दुःखमें अपना दुःख मानेगी।

क्या तुम घरके एक कोनेमें बैठकर विलाप करोगी या उसके (मेरे) साथ ही दौड़ोगी—पागलके उपयुक्त पगली बननेका प्रयास करोगी ? धृतराष्ट्रकी पत्नीने पतिके अंधे होनेके कारण अपनी आँखोंमें भी पट्टी बाँध ली थी। तुम्हें भी तद्वत् करना चाहिये।' (अरविन्दने अपने पत्रमें पत्नीको आगे लिखा—)

'मेरे तीन पागलपन हैं'

पहला पागलपन—मेरा प्रथम पागलपन यह स्थायी विश्वास है कि परमात्माने जो गुण, प्रतिभा, उच्च ज्ञान, विद्या एवं धन दिया है वह सब मेरा नहीं, अपितु परमात्माका है।

परिवारके पालन-पोषणके लिये अत्यावश्यक—अनिवार्य द्रव्यका अपने सुख एवं विलासके लिये उपयोग एवं व्यय करनेका ही हमें अधिकार है और शेषको भगवच्चरणोंमें वापस कर देना ही हमारा कर्तव्य है।

यदि मैं सभी कुछ अपने सुख एवं विलासके लिये व्यय कर दूँ तो मैं चोर हूँ। हिंदू-शास्त्र कहता है कि जो परमात्मासे धन लेकर परमात्माको दो आने देकर अपने सुखके लिये चौदह आने व्यय करता रहा है और सांसारिक सुखमें पागल रहा है वह ईमानदार नहीं है। मेरा अर्धांश जीवन व्यर्थ गया। पशु भी अपनी एवं अपने परिवारकी उदरपूर्ति करके कृतकार्य होता है। मैं अद्यावधि पशुवृत्ति एवं स्तेन-वृत्तिसे जीवन-यापन करता रहा हूँ। अब इसे समझ पानेपर घोर अनुताप एवं घृणासे अभिभूत हो उठा हूँ। अब मैंने उस पापवृत्तिका जीवनपर्यन्तके लिये त्याग कर दिया है।

परमात्माको कुछ देनेका अर्थ है धर्मकार्यमें व्यय करना। परोपकार, आश्रित-सेवा महाधर्म है, किंतु मात्र भाई-बहनको देनेसे हिसाब चुकता नहीं हो पाता। इस संकटापन्न स्थितिमें समस्त देश मेरे द्वारका आश्रित है। इस देशमें मेरे तीस कोटि भाई-बहन हैं। उनमें अनेक अन्नाभावसे मरते हैं तथा शेष कष्टोंसे जर्जर होकर अपना जीवन-यापन करते हैं। मुझे उन सभीका हित-साधन करना चाहिये।

क्या तुम इस पथमें मेरी सहधर्मिणी बनोगी ? तुमने कहा था कि मेरा कोई अभ्युदय नहीं हुआ। मैंने अभ्युदयका यह पथ प्रदर्शित कर दिया। क्या इस पथ-पर चल सकोगी ? एक सामान्य व्यक्तिकी भाँति भोजन करके कपड़े पहनकर तथा केवल अनिवार्य वस्तुओंमात्र-का क्रय करनेके पश्चात् शेष समस्त परमात्माके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दूँगा—यही मेरी अभिलाषा है।

दूसरा पागलपन—मेरा दूसरा पागलपन यह अभीप्सा है कि किसी भी तरह परमात्म-साक्षात्कार करना है। लोगोंके अद्यतन धर्मकी भाँति प्रत्येक बातमें भगवान्‌का नाम लेना, सभीके सामने भगवत्प्रार्थना करना तथा अपनी धर्मपरायणता प्रदर्शन करना मैं समीचीन नहीं मानता।

यदि परमात्माकी सत्ता है तो उसके साक्षात्कारका भी कोई मार्ग होगा। वह मार्ग कितना भी अगम्य क्यों न हो; किंतु अब उसपर यात्रा करनेका वज्रसंकल्प कर लिया है। हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिमें वह मार्ग हमारे मनमें ही स्थित है। एक मासके नियम-पालनसे मैंने यह अनुभव कर लिया है कि हिंदू-धर्मकी बातें अलीक (झूठी) नहीं हैं। पूर्वोक्त समस्त लक्षण एवं चिह्न प्राप्त हो रहे हैं।

मेरी इच्छा है कि तुम्हें भी उसी मार्गपर अग्रसर करूँ। ज्ञानाभावके कारण मेरे साथ-साथ चल पाना तो कठिन होगा तथापि मेरे पीछे-पीछे चलना निरापद एवं सरल रहेगा। इस पथमें सभीको साफल्य मिल सकता है; किंतु इसमें प्रवेश करना तो स्वेच्छाश्रित ही है, क्योंकि कोई भी तुम्हें पकड़कर हठपूर्वक नहीं ले जा सकता। तुम्हारी सम्मति होनेपर इस सम्बन्धमें और लिखूँगा।

तीसरा पागलपन—मेरा तीसरा पागलपन यह है कि मैं अन्य लोगोंकी भाँति स्वदेशको एक जड़ पदार्थ, मैदान, वन, नदी आदि न समझकर उसे माता समझता हूँ तथा उसकी भक्ति करता हूँ—**'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** (अथर्ववेद, पृथ्वीसूक्त)।

यदि माताके वक्षःस्थलपर बैठकर कोई असुर रक्तपान करनेको प्रस्तुत हो तो पुत्रका क्या धर्म है? पुत्र निश्चिन्त होकर आहार करने एवं स्त्री-पुत्रके साथ मनोरञ्जन करने बैठे या माताका उद्धार करनेके लिये दौड़े? मैं शारीरिक बल एवं बंदूक लेकर उद्धार करने नहीं जाता हूँ। केवल क्षात्रतेज ही तेज नहीं है, प्रत्युत उससे उच्चतर ब्रह्मतेज है जो कि ज्ञानाश्रित है। इसी भावको गृहीत करके मैं जन्मा हूँ। परमात्माने इसी महाव्रतके साधनार्थ मुझे पृथ्वीपर भेजा है। उक्त भावके बीज चौदह वर्षकी वयमें अङ्कुरित हुए तथा अठारह वर्षकी वयमें दृढ़तापूर्वक बद्धमूल हो गये।

तुम इस विषयमें क्या करना चाहती हो? स्त्री स्वामीकी शक्ति है। तुम उदासीन होकर स्वामीकी शक्ति कुण्ठित करोगी या उत्साह द्विगुणित करोगी? तुम सोचती होगी कि मुझ-जैसी सामान्य नारी इन महत्तम कार्योंको कैसे निष्पन्न कर सकती है? इतनी शक्ति नहीं है कि इन कार्योंको सम्पन्न किया जाय। पर मैं कहता हूँ, भगवान्की शरण लो। एक बार परमात्मप्राप्तिके पथमें प्रवेश करो। तुम्हारे समस्त अभाव दूर हो जायँगे। भगवदाश्रित व्यक्ति निर्भीक हो जाता है। मुझपर विश्वास करो तो मैं तुम्हें अपनी शक्ति दे सकता हूँ जो कि देनेपर मेरे पास और अधिक बढ़ जायगी। पत्नी पतिकी शक्ति है अर्थात् पति अपनी पत्नीमें अपनी प्रतिमूर्तिका दर्शन करके उसके द्वारा अपनी महती आकाङ्क्षाकी अभिव्यक्ति पाकर द्विगुणित शक्तिका आयत्तीकरण कर लेता है।

मैं अच्छे वस्त्र पहनूँ, अच्छा भोजन करूँ, हँसूँ, नाचूँ एवं सभी प्रकारके सुखोंका उपभोग करूँ—मनकी इस वृत्तिको ही उन्नति नहीं कहा जाता। आजकल हमारे देशकी नारियोंने जीवनके इसी संकीर्ण एवं घृणित धारणाको स्वीकार कर लिया है। तुम इन सभीका त्यागकर मेरे साथ चलो। भगवान् संसारमें कार्य सम्पन्न करने आये हैं। चलो, हम इस कार्यको प्रारम्भ करें।

आजकल लोग गम्भीर बातोंको भी गम्भीरभावसे नहीं सुन सकते। धर्म, परोपकार, महती आकाङ्क्षा, महत् अध्यवसाय, राष्ट्रस्वातन्त्र्य इत्यादि महान् विषय लेकर भी हास-परिहास होता रहता है तथा लोग इन्हें हँसीमें उड़ा देना चाहते हैं। मनके इस भावको दृढ़तापूर्वक हटाना होगा। मनमें जो शक्तिकी कमी है, वह परमात्माकी उपासनासे दूर हो जायगी।

मेरी इन गुप्त बातोंको किसीके भी प्रकाशमें न लाकर अपने मनमें स्थिरतापूर्वक मनन करो। प्रथमतः कुछ करना नहीं होता, प्रत्युत प्रतिदिन आध घंटे भगवद्ध्यान करना होता है। प्रभुकी ओर उन्मुख होनेके लिये प्रार्थनाके माध्यमसे इच्छाको अधिकाधिक बलवती बनानेका प्रयास करना पड़ता है। मन क्रमशः ही दृढ भाव-भूमिके लिये तैयार होगा।

तुम ईश्वरके समक्ष यही प्रार्थना करती रहो कि मैं स्वामीके जीवन-लक्ष्य, भगवत्प्राप्तिके मार्गमें व्युत्सर्ग (बाधक) न बनकर सदैव साधन एवं सहायक बनूँ।

तुम्हारा साथी—अरविन्द

* योगिराज अरविन्दके आरम्भिक साधना-जीवनमें अपनी पत्नीको लिखा गया यह पत्र यद्यपि वैयक्तिक है, पर भारतीय पत्नियोंके लिये उच्चतरस्तरकी पतिभक्तिका आदर्शोपदेश है।

पितरोंका समयविभाग और श्राद्धविवेचन

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री, 'सारस्वत', विद्यावागीश, विद्यावाचस्पति)

आश्विनमें जो वार्षिक (पार्वण) श्राद्ध आस्तिक जनोंके घरोंमें हुआ करता है, उसका संक्षिप्त शास्त्रीय और वैज्ञानिक रहस्य बताते हुए हम पहले उसका समय-क्रम बताते हैं कि पितरोंकी घड़ीमें किस-किस तिथिमें क्या समय होता है।[1] 'कल्याण'-पाठक इसे अवधानसे देखेंगे—ऐसी आशा है।

पितरोंका समय-विभाग

शुक्ल-पक्ष-तिथि		पितरोंका समय			कृष्ण-पक्ष-तिथि		पितरोंका समय		
प्रतिपद्—१	मध्याह्न	घंटा	१२.४८	मिनट	प्रतिपद्—१	मध्यरात्रि	घंटा	१२.४८	मिनट
द्वितीया—२	"	"	१.३६	"	द्वितीया—२	"	"	१.३६	"
तृतीया—३	"	"	२.२४	"	तृतीया—३	"	"	२.२४	"
चतुर्थी—४	"	"	३.१२	"	चतुर्थी—४	"	"	३.१२	"
पञ्चमी—५	अपराह्ण	"	४.०	"	पञ्चमी—५	उषा	"	४.०	"
षष्ठी—६	"	"	४.४८	"	षष्ठी—६	"	"	४–४८	"
सप्तमी—७	"	"	५.३६	"	सप्तमी—७	"	"	५.३६	"
अष्टमी—८	सायं	"	६.२४	"	अष्टमी—८	प्रातः	"	६.२४	"
नवमी—९	"	"	७.१२	"	नवमी—९	"	"	७.१२	"
दशमी—१०	रात्रि	"	८.०	"	दशमी—१०	दिन	"	८.०	"
एकादशी—११	"	"	८.४८	"	एकादशी—११	"	"	८.४८	"
द्वादशी—१२	"	"	९.३६	"	द्वादशी—१२	"	"	९.३६	"
त्रयोदशी—१३	"	"	१०.२४	"	त्रयोदशी—१३	"	"	१०.२४	"
चतुर्दशी—१४	"	"	११.१२	"	चतुर्दशी—१४	"	"	११ १२	"
पूर्णिमा—१५	मध्यरात्रि	"	१२.०	"	अमावस्या—३०	मध्याह्न	"	१२.०	"

इस समय विभागसे—

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लं स्वप्नाय शर्वरी॥
(मनुस्मृति १। ३६)

मनुष्योंका एक मास पितरोंका एक दिन-रात होता है। कृष्णपक्ष पितरोंके कार्यके लिये होता है, अतः वह पितरोंका दिन होता है और शुक्लपक्ष सोनेके लिये है, अतः वह पितरोंकी रात होता है। यह सनातनधर्मका सिद्धान्त वैज्ञानिक होनेसे मान्य एवं सत्य सिद्ध हुआ है।

इस लोकसे मरकर गये हमारे पितरोंकी अवस्थिति पितृलोकमें होती है। हमें उनके मध्याह्न-कालमें उन्हें भोजन पहुँचाना है। उसमें दो प्रकार हैं—एक तो यह कि हमें उनके नामसे अग्निमें हविका हवन (स्वधा) करना चाहिये; क्योंकि अथर्ववेद संहितामें मृत पितरोंके खिलानेके लिये आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थना की गयी है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
(अथर्ववेद शौ० सं० १८। २। ३४)

---

१. पृथ्वीकी प्रति तिथि पितरोंके ४८ मिनटके बराबर होती है। अपनी घड़ीके क्रममें हम उनके समयका ज्ञान उपर्युक्त तालिकासे कर सकते हैं।

अर्थात्—अग्निदेव ! जो पृथ्वीमें गाड़े गये हैं, जो जलमें प्रवाहित किये गये हैं या जो चितामें जलाये गये हैं अथवा अन्तरिक्षमें नष्ट हो गये हैं, उन सभी पितरोंको आप इस श्राद्ध-कार्यमें बुला लायें।'

महाभारत-आदिपर्वमें भी अग्निकी उक्ति है—

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद् हूयते हविः।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै॥
(७।७)

देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम्।
(७।१०)

अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जन्ते च हुतं हविः॥
(७।११)

(वेदोक्त विधानसे मुझ-अग्निमें जिस हविका हवन होता है, उससे देवता तथा पितर तृप्त हो जाते हैं। देवताओं तथा पितरोंका मुख मैं (अग्नि) हूँ। अमावस्यामें पितर तथा पूर्णिमामें देवता मेरे मुखसे ही हवि खाते हैं।)

दूसरा प्रकार यह है कि—अग्निके सहोदर ब्राह्मण-की जठराग्निमें ब्राह्मणके मुखके द्वारा उन देव एवं पितरोंके नामसे हव्य-कव्य समर्पित किया जावे।—

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
(मनु० ३।९८)

(विद्या एवं तपसे समृद्ध ब्राह्मणके मुख वा अग्निमें आहुति डाली जाये।) अग्नि और ब्राह्मणकी सहोदरतामें प्रमाण यह है कि ब्राह्मण तथा अग्नि दोनोंकी विराट् पुरुषके मुखसे उत्पत्ति वेदादि शास्त्रोंमें कही गयी है; जैसा कि—

'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्' (यजु० माध्यं० सं० ३१।११)
मुखादग्निरजायत' (माध्यं० ११।१२)

इसलिये शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंको आग्नेय वा अग्नि कहा गया है। तभी मीमांसादर्शनके ३।४।२४ सूत्रके श्रीशंकराचार्यके भाष्यमें **'आग्नेयो वै ब्राह्मणम्'**श्रुतिपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार प्रश्नोत्तर प्रक्रिया आयी है—

(प्रश्न) अनाग्नेय ब्राह्मणोंमें आग्नेय आदि शब्द किस सम्बन्धसे कहे जाते हैं ? (उत्तर) वे दोनों एक जातिवाले हैं, जैसे कि कृष्णयजुर्वेद सं० में है कि प्रजापतिने प्रजाओंकी सृष्टि सोची, उसमें अग्निने योग दिया, मनुष्योंमें ब्राह्मण मुखसे उत्पन्न हुए इत्यादि। यहाँपर अग्नि एवं ब्राह्मणकी एक-जातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है; क्योंकि दोनोंकी उत्पत्ति मुखसे हुई।*

कुछ अन्य प्रमाण भी देख लेने चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

—अग्नि न हो, तो (पितृदान) ब्राह्मणको ही दे दे।

'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणौ एवोपपादयेत्'
यह कहकर वहाँ हेतु दिया गया है—

'यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते'।
(३।२।१२)

यहाँ मन्त्रद्रष्टाओंद्वारा अग्निको ब्राह्मण माना गया है। कठोपनिषद्में कहा है—

'वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
(१।१।७)

यहाँपर ब्राह्मणको वैश्वानर अग्नि माना गया है। यहाँ स्वामी श्रीशंकराचार्यने भाष्यमें कहा है—
'वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशति अतिथिः

* (प्रश्न) अनाग्नेयेषु (ब्राह्मणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ? (उत्तर) गुणवादेन। (प्र०) को गुण-वादः ? (उ०) अग्निसम्बन्धः। (प्र०) कथम् ? (उ०) एकजातीयकत्वाद् (अग्निब्राह्मणयोः)। (प्र०) किम् एकजातीयत्वं (तयोः); (उ०) प्रजापतिरकामयत—प्रजाः सृजेयमिति स मुखतः त्रिवर्णं निरमिमीत। तम् अग्निर्देवता अन्वसृज्यत, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्'''''। यस्मात् ते मुख्याः, मुखतोऽन्वसृज्यन्त'।

सन् ब्राह्मणो गृहान्' भविष्यपुराणमें भी कहा है—'ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु' (ब्राह्मपर्व १३ । ३६) ।

निष्कर्ष यह कि प्रथम प्रकारसे साक्षात् अग्नि और दूसरे प्रकारसे ब्राह्मणस्थ वैश्वानर अग्नि कव्यको सूक्ष्म करके पितरोंको पहुँचाते हैं । वे पितर उस सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं; क्योंकि—वे स्वयं सूक्ष्म शरीरात्मक होते हैं । इसी कारण उनके लिये स्थूलसे सूक्ष्मभूत भोजनकी आवश्यकता होती है। उसीसे उनकी तृप्ति होती है ।

इसको इस प्रकार समझना चाहिये—हम अपने मुखद्वारा स्थूल भोजनको अपने पेटमें भेजते हैं, परंतु हमारी आत्मा सूक्ष्म है, उसके लिये सूक्ष्म भोजन अपेक्षित है । उस समय उस स्थूल भोजनको हमारी जठराग्नि सूक्ष्म करके हमारी सूक्ष्म आत्माको सौंप देती है । उस सूक्ष्म तत्त्वसे हमारी सूक्ष्म अन्तरात्मा तृप्त हो जाती है । यहाँपर वही स्वयं ही यह कार्य करती रहती है; हमें वहाँ कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती ।' इस प्रकार सूक्ष्म पितर भी हमारे दिये हुए स्थूल भोजनके अग्नि एवं ब्राह्मणाग्निद्वारा किये गये सूक्ष्मतत्त्वको प्राप्त करके तृप्त हो जाया करते हैं । यहाँपर ब्राह्मणकी अग्नि व्यापक-महाग्निके साथ मिलकर स्वयं ही उस कार्यको करती जाती है । वहाँपर उसके लिये ब्राह्मणको कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती ।

वादी-प्रतिवादी सभी मानते हैं कि यज्ञसे प्रसन्न हुए देवता वृष्टि करते हैं; जैसा कि श्रीमनुजीने कहा है—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः ।' (३ । ७६)

इसी प्रकार श्राद्धमें भी जब कव्य (पितृहवि) को अग्निका सहोदर ब्राह्मण एवं अग्नि प्राप्त करते हैं, तब ब्राह्मणकी अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर व्यापक महाग्निके साथ मिलकर आकाशाभिमुख चन्द्रलोकस्थ पितरोंको सौंप देती है । इससे वे पितर तृप्त होकर अपने माहात्म्यसे श्राद्ध करनेवालेके धान्य, सन्तानादिको कर देते हैं ।

जैसे देवताओंको **'सोमाय स्वाहा', 'वरुणाय स्वाहा'** आदि मन्त्रोंसे दी हुई हविको सूर्य खींचते हैं, वैसे ही पितरोंके उद्देश्यसे दी हुई हविको सूर्य खींचकर अपनी सुषुम्णा रश्मिसे प्रकाशित चन्द्रलोकमें भेज देते हैं; वह चंद्र अपनेमें स्थित पितरोंको उक्त हवि पहुँचा देता है । उस श्राद्धभोक्ता ब्राह्मणकी अग्नि मन्द न पड़ जाय, जिससे महाग्निसे उसका मेल न हो सके, इसलिये शास्त्रोंने उस दिन कई विभीषिकाएँ देकर उसे पूर्वरात्रिमें संयमी रहनेके लिये आदिष्ट किया है—यही उसमें रहस्य है । शेष ब्राह्मणोंको भस्मीभूत (मनु० ३ । ९७) कहा गया है । इसलिये पितृ-श्राद्धमें दोषहीन विशिष्ट ब्राह्मणको बुलानेको मनुस्मृति आदिमें कहा है ।

कई लोग देवताओंको जड़ मानते हैं, तब सूर्य-चन्द्रादि किरणोंके भी जड़ होनेसे वे उस पितरको दिया हुआ कव्य कैसे पहुँचा सकते हैं—यह प्रश्न होता है; इसपर उत्तर यह है—हमलोगोंके कर्म भी तो जड़ हुआ करते हैं, वे भी अग्रिम जन्ममें कर्ताको कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? जैसे कर्मोंके अधिष्ठाता परमात्मा जड़ नहीं हैं, किंतु सर्वव्यापक एवं चेतन हैं; वे ही देव और पितरोंके कर्मोंके भी व्यवस्थापक हैं । वे ही सब व्यवस्थाएँ पूरी करा दिया करते हैं । जैसे हजारों गौओंमें बछड़ा अपनी माताको प्राप्त कर लिया करता है, वैसे ही पुत्रकृत श्राद्ध भी पितरोंके पास उपस्थित हो जाता है ।

यही मृतक-श्राद्धका रहस्य है, जिसको न जानकर प्रतिपक्षिगण अपनी अल्पश्रुतताका परिचय दिया करते हैं । अग्नि पितृलोकस्थ पितरोंको सूक्ष्म कव्य समर्पित करती है—इसमें कई वेद-मन्त्रोंकी साक्षी भी हैं; देखिये—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा
मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः
स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥
(अथर्ववेदसं० १८ । २ । ३५)

इससे सिद्ध है कि वेदमें श्राद्धके प्रसङ्गमें प्रयुक्त 'पितृ' शब्द मृत पितृवाचक होता है । इसीलिये वेदमें कहा है—

पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः
(अथर्व० १२ । २ । ४५)
अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु
(अथर्व० १८ । ४ । ४८)

इस प्रकार मृतक-श्राद्धकी वैदिकता सिद्ध हो गयी । यही रहस्य है मृतकके मासिक-श्राद्धका । शारदिक वार्षिक श्राद्ध तो विशिष्ट होता है । भाद्रपद पूर्णिमासे प्रारम्भ होकर आश्विनकी अमावास्यातक सब तिथियोंमें भिन्न-भिन्न पितर भोजन पाते हैं । जैसे हम कभी विवाहादि विशेष अवसरोंपर रात्रिके १२ बजनेके समय भी विशेष भोजन प्राप्त करते हैं, जन्माष्टमी आदिके अवसरपर भक्तगण आधी रातके समय भी पारण करते हैं, उसी प्रकार अपवाद होनेसे पितरोंके विषयमें शुक्ल-पक्षीय क्षयाहादि तिथिमें भी जान लेना चाहिये । वे पितर उस तिथिमें उस मार्गमें होते हैं । तिथियोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे होता है । शारदिक श्राद्ध भी पार्वण होनेसे विशेष पितरोंका विशेष पर्व ही समझना चाहिये । तब पितर रातके १२-१ बजे भी भोजन प्राप्त करते हैं । मनुस्मृति आदि प्रोक्त पितृयज्ञमें जीवित-पितरोंका अर्थ हो ही कैसे सकता है ?

श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजनके उल्लेख आपस्तम्बधर्मसूत्रे बोधायनीय पितृमेधसूत्रे एवं बोधायनीय गृह्यसूत्रे और हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्रेमें तो आये ही हैं, मानवगृह्यसूत्रमें भी कहा गया है कि 'श्राद्धमपरपक्षे पितृभ्यो दद्यात् अनुगुप्तमन्नं ब्राह्मणान् भोजयेत् । नावेदविद् भुञ्जीत' इति श्रुतिः (२ । ९ । ९-१०) इत्यादि । इसी प्रकार— 'यां ते धेनुं विपृणामि यमु ते क्षीरमोदनम्' (अथर्ववेद सं० १८ । २ । ३० और ४ । ३४ । ८) इत्यादिसे मृतकके निमित्त गोदान तथा खीरका विधान है— 'इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु' । महाभारत-वनपर्वमें भी कहा है—

ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यस्वर्गमभीप्सता ॥
श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः ।
(२०० । १६-१७)

इस प्रकार मृतक-श्राद्ध और ब्राह्मणभोजन जहाँ वेदादिशास्त्र-सम्मत हुआ, वहाँपर वैज्ञानिक एवं सोपपत्तिक भी सिद्ध हुआ ।

अग्निष्वात्ताः पितर एह (आ इह) गच्छत सदः-सदः सदत-सुप्रणीतयः । अत्ता हवींषि प्रयतानि (ऋ० १० । १५ । ११) यहाँ मृतकोंको ही पितर और हविके भक्षणार्थ बुलाकर मृतकपितृश्राद्धको वैदिक सिद्ध किया गया है । 'यान् अग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः' (शतपथ० २ । ६ । १ । ७) जीवित पितर अग्निदग्ध नहीं होते ।

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी । प्रादाः पितृभ्यः ते स्वधया अक्षन्नद्धि । (यजुः माध्यं० सं० १९ । ६६) । इस मन्त्रमें कहा है कि पितरने उस अन्नको लिया और खा लिया । यह वैदिक रसीद है ।

श्राद्धभोक्ता जन्मसे ब्राह्मण, वेद-विद्वान् और सदाचारी होना चाहिये । इस विषयमें पहले स्पष्टता की जा चुकी है ।

पितृलोकका समयक्रम पहले लिखा जा चुका है । पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर होता है । 'सिद्धान्तशिरोमणि'-में लिखा है—

---

१. २ । १७ । ४; २. २ । ११ । ७; ३. २ । १० । ३६; ४. २० । ४ । १०-११;

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः
स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति।
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वे
दर्शे यतोऽस्माद् द्युदलं तदैषाम्॥
(सि० शि० गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना, श्लोक १३)

इससे पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर सिद्ध होता है। जब चन्द्रमा शुक्लपक्षमें इस लोकमें अपना प्रकाश करते रहते हैं, तब वे सूर्यसे दूसरे कोनेमें होते हैं, तब पितृ-लोकमें १५ दिनतक निरन्तर एक रात्रि होती है। जब कृष्णपक्ष होता है, तब इस लोकमें रातको चाँदनी नहीं होती। उस समय चन्द्रलोक सूर्यके निकट होता है, तब पितृलोककी प्रजा निरन्तर (कृष्ण-अष्टमीसे शुक्ल-अष्टमीतक) सूर्यको देखती है। इस प्रकार निरन्तर उसका एक दिन प्रातः ६ से सायं ६ तक होता है। अमावस्याको जब सूर्य-चन्द्र एक राशिमें होते हैं, तब हमारे अपराह्णकालमें सूर्यके चन्द्रलोकके सिरपर होनेसे चन्द्रलोकके उर्ध्वस्थ पितरोंका भोजन-काल (मध्याह्न) होता है। हमारी जब पूर्णिमा होती है, तब सूर्य चन्द्र-लोकके ६ राशिके अन्तरसे बहुत दूर होते हैं। तब चन्द्रलोकमें रात्रि होती है। हमारा ३० दिनका एक मास होता है। परंतु चन्द्रलोकके ऊपर रहते हुए पितरोंका वह २४ घंटेका दिन-रात होता है। इस गणनासे हमारी तिथि पितरोंकी मध्यममानसे ४८ मिनटोंका समय होती है। इससे अमावस्या पितरोंका मध्याह्न है। इसीलिये अमावस्याके श्राद्धका अधिक महत्त्व माना गया है। श्राद्ध शास्त्रीय अवश्यकरणीय कर्त्तव्य और पूर्वजोंमें श्रद्धाका परिचायक अनुष्ठेय कर्त्तव्य है। पितृ-पक्षमें तर्पण करना तथा श्राद्ध करना प्रत्येक आस्तिक धार्मिक-का पावन कर्त्तव्य है।

श्रद्धा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

नागालैंडमें कछारी नामकी एक जाति रहती है, जिसके विषयमें इस समय थोड़ी गवेषणाकी आवश्यकता है। सन् १९०१ में इस राज्यकी कुल जनसंख्या १,०१,५५० थी, जो सन् १९७१ में ५,७६,४४९ तक पहुँच गयी। इस समय वह छः लाखसे ऊपर है। भारतवर्षमें यही एक ऐसा प्रदेश है, जहाँ हिंदुओंकी संख्या बड़ी तेजीसे घट रही है। इसका एक कारण है। अंग्रेजोंने जब यहाँ अधिकार किया तो इसे सदा अपने हाथमें रखनेके लिये यहाँ पादरियोंकी पूरी टोली भेज दी। उन्होंने लोगोंको बड़ी तेजीसे ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सन् १९७१में यहाँ केवल ५९,०३१ हिंदू, २,९६६ मुसलमान, ६८७ सिख, १७९ बौद्ध, ६२७ जैन रह गये तथा शेष ५ लाख ईसाई हो गये। यहाँपर बलात् (जबरन) ईसाई बनानेकी प्रथा चल पड़ी, जो अभीतक चालू है। यही कारण है कि लोक-सभामें श्रीत्यागीद्वारा जब बलात् धर्मपरिवर्तन-विरोधी बिल पेश हुआ तो उसका विरोध इसी (ईसाई) वर्गद्वारा विशेषरूपसे किया गया।

नागाभूमिमें ऊपर जिन कछारी जातिके लोगोंका हम उल्लेख कर आये हैं वे सभी हिंदू हैं। नागा-उपद्रवोंमें उनका बिलकुल हाथ नहीं है। वस्तुतः ये लोग पूर्ण शान्त तथा अहिंसक हैं, अतः नागाक्षेत्रके विद्रोही तथा उपद्रवी लोगोंद्वारा इन्हें बहुत कष्ट दिया जाता है। इन लोगोंको 'कछारी' क्यों कहा गया, यह अनुसंधेय है। एक विचित्र बात यह है कि इतनी दूर तथा भारतसे युगोंतक अलग रहते हुए भी ये लोग भोजपुरी हिंदीसे मिलती-जुलती भाषा बोलते हैं तथा भोजपुरी भलीभाँति समझ भी लेते हैं। इधर इनकी भाषा तथा सभ्यतापर आगराके डॉ० अश्विनीकुमारने शोध-कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

यहाँपर इनका उल्लेख करनेका एक विशेष कारण है। यहाँ कछारी लोगोंके निवासस्थलके बीचमें पुरातत्त्वकी खुदाईसे एक दुर्गाकी प्रतिमा तथा दूसरी शंकरकी सिद्धासन लगाये—ये दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इससे यह अनुमान होता है कि हजारों वर्ष पहले यह स्थान शैवमतका केन्द्र रहा होगा। तथापि इसके कुछ अधिक प्रमाण अभी संप्राप्य हैं, पर जो वस्तु सर्वाधिक आश्चर्यकी है, वह यह है कि ये कछारी लोग सैकड़ों वर्षोंसे छः पत्थरोंकी पूजा करते आये हैं। उनका पवित्रतम देवस्थान वही है, जहाँ साधारणतः छः पत्थर होते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि ये पत्थर किस देवताके प्रतीक हैं तो वे प्रायः कुछ नहीं बतलाते। उनके पत्थरोंका कोई नाम नहीं है। उनको इतना ही ज्ञात है कि परमशक्तिमान् देव उन्हें अपने पूर्वजोंसे प्राप्त हुए हैं। हो सकता है कि उस समयके यौगिक उपासनाके युगमें छः पत्थर षड्चक्रके प्रतीक हों। शरीरके भीतर भी षड्चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा। षडङ्ग उपासनाचक्र भी बड़े महत्त्वकी वस्तु है—दीपिका, ध्यानपद्धति, निरूपण, निलय, प्रभेद-भेद-विवृत्तिका तथा रूप। प्राचीनकालमें मार्गशीर्ष मासके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशीको पाषाण-चतुर्दशी कहते थे, जिस दिन गौरी-पूजन होता था और गौरीको चावलके पूए, जिन्हें पत्थरके छः टुकड़ों-की तरह काटकर चढ़ाते थे, ये लोग खाते थे। चाणक्यनीतिमें आता है कि सत्य माता है, ज्ञान पिता है, धर्म भाई है, दया सखा है, शान्ति पत्नी है, क्षमा पुत्र है—यही मेरे छः बन्धु हैं। कछारियोंके छः पत्थर इसके भी प्रतीक हो सकते हैं—

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते बान्धवाः समाः॥

साथ ही छःसे षडानन (कार्तिकेय) वेदोंके षडङ्ग, आगमषडाम्नाय, षड्ऋतु, राजनीतिके यान, संधि आदि षड्गुण; षट्शक्ति या षड्दुर्ग (पत्थर, वन, ईरिण, गिरि आदि) अर्थके भी बोधक हैं, जो सीमापर निवास करनेके लिये अवश्य आराध्य हो सकते हैं। अस्तु!

कछारी लोग सब विपत्तियोंको सहते हुए भी कट्टर हिंदू हैं। उनकी लोक-कथाएँ भी उत्तर भारतकी लोककथाओंसे बहुत अंशोंमें मिलती-जुलती हैं। आजतक ये लोग अपनी सभ्यता-संस्कृतिको सँजोये हुए केवल इसीलिये नष्ट नहीं हुए कि इनमें अपने छः पत्थरोंके प्रति अटूट आस्था है।

भारतकी आज जो चारित्रिक तथा नैतिक पतनकी स्थिति है, इसका एकमात्र कारण धार्मिक मान्यताकी अवमानना है। जब समाज धर्म तथा कर्तव्य, दोनोंको दो चीज—पृथक् वस्तु मानने लगता है तो उसकी वही स्थिति होती है जो हमारी हो रही है। यूरोप और अमेरिकाके भयंकर सामाजिक विघटन, नैतिकताके ह्रास तथा चारों ओर व्याप्त अनेक बुराइयोंके कारण इतना धन-वैभव और साधन-सम्पन्न होते हुए भी आज वहाँ घोर अशान्ति है और हाहाकार मचा हुआ है।[1]

अब भारतमें भी हत्या तथा डकैतीका औसत अमेरिकाके प्रायः बराबर हो गया है। प्रतिदिन यहाँ औसतन १४० दंगे, बलवे होने लग गये हैं। पश्चिमी देशोंके समाज-शास्त्रियोंका कथन है कि वहाँ धर्मसे विमुखता तथा माता-पिताकी संतानके लालन-पालन, शिक्षण आदिके प्रति उपेक्षा ही इस स्थितिका कारण है। भारतमें भी

१–आकड़ोंसे विदित होता है कि संसारके सबसे धनी देश संयुक्तराज्य अमेरिकामें प्रति तीन (३) सेकेण्डपर एक भयंकर अपराध होता है यानी प्रतिदिन २८,८०० अपराध। वहाँ प्रति ३१ सेकेण्डपर एक हिंसात्मक अपराध होता है, प्रति १३ सेकेण्डपर एक मोटर गाड़ी चोरी जाती है, हर पाँच सेकेण्डपर चोरी होती है, प्रति १० सेकेण्डपर सेंधमारी होती है, हर ७८ सेकेण्डपर राहजनी, डकैती, हर ८ मिनटपर स्त्रीके साथ बलात्कार तथा हर २७ मिनटपर एक हत्या होती है।

अब वैसी स्थिति आ गयी है । जिस देशकी नारियाँ संसारमें अपने चरित्र तथा गौरवके लिये आदर्श रही हों, वहीं अब (हालमें प्रकाशित पुलिस-विभागकी एक खोजके अनुसार) अपराधकी दिशामें भारतकी स्त्रियाँ भी कम नहीं हैं । संयुक्तराज्य अमेरिका, जापान तथा पश्चिमी जर्मनी-जैसे महान् धनी तथा विधर्मी देशोंमें जितनी हत्याएँ होती हैं, उनमें केवल एक प्रतिशत—सौमें एक स्त्रियोंके द्वारा होती हैं, पर अब भारतमें ४·४ प्रतिशतका औसत पड़ता है । जेलोंमें बंद ६४१ स्त्रियोंकी समीक्षासे पता चला कि इनमेंसे ८० प्रतिशत विवाहिता हैं । इनमेंसे २० प्रतिशत दूकानोंसे सामान चुराते या जेब काटते पकड़ी गयीं । बहुत-सी स्त्रियाँ बलवा करने, नाजायज शराब बनाने या लड़की भगानेके अपराधमें पकड़ी गयीं । जेलमें बंद हर १० स्त्री अपराधिनीमें चारकी उम्र २१ से ३९ वर्षके भीतर है । पिछले पाँच सालमें २१ वर्षसे नीचेकी स्त्री अपराधियोंकी संख्यामें ३५ प्रतिशत तथा २१ से ऊपरकी संख्यामें ५० प्रतिशतकी वृद्धि हुई है ।

इन आकड़ोंसे स्पष्ट है कि हम सब अपने आदर्शों तथा श्रद्धासे विहीन होते जा रहे हैं ।

आदर्शकी बात

जिस व्यक्ति, देश या राष्ट्रका आदर्श खो जाता है, वह प्रायः नष्ट हो जाता है । आदर्शके प्रति आस्था ही श्रद्धा है । संयुक्तराज्यके मिशिगन प्रदेशमें मैंकिनो नामक बड़ा सुन्दर स्थान है । वहाँ सितम्बर १९५७में नैतिकतापर एक सम्मेलन हुआ । उसमें लेखक भी उपस्थित था । वहाँ राष्ट्रिय चीन (चाँग-काई-शेकके चीन) के प्रधान सेनापति जनरल 'हो'ने हमारे सामने भाषण देते हुए कहा था कि जब माओकी कम्यूनिस्ट सेनाने चीनकी राष्ट्रिय सरकारपर आक्रमण किया, उस समय राष्ट्रिय चीनकी सेनामें ३० लाख सिपाही तथा कम्यूनिस्ट सेनाके पास केवल ३ लाख सिपाही थे । पर राष्ट्रिय चीन बुरी तरह पराजित हुआ है । उसे चीन छोड़कर फारमोसा (ताइवान) टापू भाग आना पड़ा । इसका भी कारण था, राष्ट्रिय चीनवाले अपना आदर्श खो बैठे थे और कम्यूनिस्ट सेना एक आदर्शके लिये लड़ रही थी । अतएव उसमें आत्मबल था । आदर्श ही राष्ट्रका सबसे बड़ा रक्षक है, व्यक्तिके लिये वही आत्मबल है । आदर्शकी आस्था ही श्रद्धा कहलाती है । इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

भवानी श्रद्धाकी प्रतीक हैं, शंकर विश्वासके । इन दोनोंको एक साथ लेकर चले बिना सिद्ध-से-सिद्ध लोग भी अपने भीतर बैठे ईश्वरको नहीं देख सकते ।

आज यदि भारतमें श्रद्धा और विश्वासका पुनः प्रादुर्भाव हो जाय तो हमारी कायापलट हो जाय । हमें इसके लिये किसीसे कुछ माँगने–कहने नहीं जाना है । यह हम सबके पास है । वह हमारे देशकी संस्कृतिका आदर्श है ।

श्रद्धा

स्पेन-निवासी जुआन वेलेस (जन्म सन् १८२४, मृत्यु १९०५)नामक लेखकने लिखा था कि 'विश्वास तथा श्रद्धासे आत्मा ऊँची उठती है । भावनाएँ पवित्र होती हैं । मानवको मानवीय प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तथा जीवनका गौरव प्राप्त होता है । स्काटलैंडके कवि अलकजेंडर स्मिथ (१८३०–६७)ने कहा था कि मनुष्यके लिये सबसे बड़ी दुर्घटना है—ईश्वरमें श्रद्धाको खो बैठना । अंग्रेज पादरी रिचार्ड बैक्सटर (१६१५–१६९१) ने बहुत मर्मकी बात कही है कि—'मनुष्य अपनी भौतिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिये अपने मनसे अपना (मनगढ़ंत) धर्म बनाकर उसीके जालमें स्वयं फँस जाता है और असली विश्वास, असली श्रद्धा, असली धर्म और ईश्वरसे दूर चला जाता है, जिससे वह अपने वास्तविक कल्याणसे दूर होता जाता है ।'

हमारे काव्य, साहित्य तथा महाभारत आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें विश्वास शब्द उसी श्रद्धाके अर्थमें आया है। वास्तवमें विश्वास तथा श्रद्धाको पृथक् नहीं किया जा सकता। दोनों एक ही हैं। भवानी और शंकर, विष्णु और लक्ष्मी, पुरुष और प्रकृति—ये सब एक ही हैं। इनको एक दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने श्रद्धाको बड़ा महत्त्व और उच्च स्थान दिया है। ऋग्वेद (१० । १५१)में इसे पूजनीय देवता माना है। तैत्तिरीयब्राह्मणके अनुसार प्रजापतिकी पुत्रीका नाम 'श्रद्धा' है। 'शतपथब्राह्मण'के अनुसार सूर्यकी पुत्रीका नाम 'श्रद्धा' है। महाभारतके अनुसार दक्षकी पुत्री तथा धर्मकी पत्नीका नाम 'श्रद्धा' है। मार्कण्डेयपुराणके अनुसार कामदेवकी माताका नाम 'श्रद्धा' है। भागवतके अनुसार आङ्गिरस या मनुकी पत्नीका नाम श्रद्धा है।

बिना सहधर्मिणीके यज्ञ नहीं हो सकता। हमलोग 'पत्नी'का अर्थ अंग्रेजी शब्द 'wife' (अपनी विवाहिता स्त्री) समझते हैं। पर इसका प्राचीन अर्थ बहुत गूढ़ तथा पवित्र है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पाणि० ४ । १ । ३३) अर्थात् जो पतिके यज्ञमें कर्मकी सहयोगिनी एवं फलकी अर्द्ध-भागिन हो, वह पत्नी है।

नागाभूमिकी कछारी जाति अब भी हिन्दू-धर्मके प्रति जैसे-तैसे श्रद्धाको सँजोये हुए जीवित है। दुर्भाग्यसे बाह्य तथा आन्तरिक राष्ट्र-विरोधी तत्त्व तथा विधर्मी संस्थाएँ वेद-पुराण-जैसे हमारे सांस्कृतिक-संजीवन ग्रन्थोंको नवीन तथा मिथ्या सिद्धकर उनमें चाणक्यनीति दिखाकर हमारा समूल विनाश करनेपर तुले हैं। अब हमारा उद्धार कैसे हो? इसपर सक्रिय विचार किया जाना परमावश्यक है।

माँ-बेटेकी बातचीत

[बाल-शिक्षा]

'माँ! ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके करनेसे तुम्हारी ही तरह सब लोग मुझसे प्रेम करने लगेंगे?' बच्चेका प्रश्न था, माँने बड़े स्नेहसे अपने पुत्रको दुलारते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारी यह जिज्ञासा बड़ी अच्छी है। मुझे तो तुम यों भी बड़े अच्छे लगते हो, परंतु इसमें मेरी ममता भी कारण हो सकती है। जब तुम्हारे अंदर अच्छे-अच्छे गुण आ जायँगे, तब तो सभी लोगोंकी दृष्टिमें तुम अच्छे हो जाओगे। सब लोग तुम्हारा सम्मान करेंगे और तुम्हारे मनमें भी बड़ी प्रसन्नता होगी। देखो, मेरे पड़ोसीका लड़का ध्रुव कितना अच्छा बालक है। उससे सब लोग प्रसन्न रहते हैं। उसकी बातका सब विश्वास करते हैं। वह कभी झूठ नहीं बोलता। उसके मुँहसे कभी किसीने कड़वी बात नहीं सुनी। आवश्यक न होनेपर वह सच्ची बात भी नहीं कहता, चुप रह जाता है। समय देखकर किसीकी भलाईकी बात तब कहता है जब उसकी समझमें वह बात ठीक-ठीक बैठ जाती है। इसीसे बड़े-बड़े लोग भी उसकी बात बड़े ध्यानसे सुनते हैं। यदि तुम भी बोलनेमें सदैव कम बोलने, सच बोलने, मीठा बोलने तथा दूसरेकी भलाईकी बात कहनेका ध्यान रक्खोगे तो सब लोग तुम्हें भी उसी तरह मानेंगे।

'बेटा! सच बोलनेका इतना ही लाभ नहीं है कि लोग उसकी बात मानें और उसका सम्मान करें। जो सत्य बोलनेका नियम ले लेते हैं, वे सच्ची बात जाननेकी चेष्टा भी करते हैं और सावधान रहते हैं कि कहीं उनके मुँहसे झूठ न निकल जाय, कहीं वे कोई गलती न कर बैठें। इससे उनके मनमें सचाई जाननेकी इच्छा बढ़ती है और वे सत्यस्वरूप परमात्माको जान लेते हैं। सत्यकी खोज और सत्य वाणीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और वे उसकी मुँहमाँगी चीज दे देते हैं। यहाँतक सुना गया है कि जो बारह वर्षतक सच ही बोलता है, कभी अनजानमें भी झूठ नहीं बोलता, उसकी वाणी सिद्ध

हो जाती है और वह यदि कभी किसी वस्तुके विषयमें असावधानीसे भी कुछ कह देता है तो वह वैसी (सत्य) ही हो जाती है। उसे वाक्-सिद्धि मिल जाती है।'

'माँ! तुम तो कहती हो कि सच बोलना चाहिये, परंतु मेरे कई साथी तो झूठ बोलते हैं, छल करते हैं और लोग उनका ही आदर करते हैं। तब मैं कैसे मानूँ कि सच बोलना अच्छा है?' लोकमें तो झूठे ही चलते-पुर्जे माने जाते हैं। दुनियादारीमें झूठे लोग ही निकल जाते हैं।

'बेटा! उन लोगोंकी चालाकी तभीतक चलती है, जबतक उनकी पोल नहीं खुलती। जब सब लोग जान जायँगे कि वे झूठ बोलते हैं, तब उनकी सच्ची बातका भी विश्वास नहीं करेंगे। जो लोग झूठ बोलते हैं, वे भी झूठोंका विश्वास नहीं करते। उन्हें किसी बातका पता लगाना होता है, तब वे झूठोंसे नहीं पूछते, सच्चे लोगोंसे ही पूछते हैं। इससे सिद्ध होता है कि झूठे लोग भी सचाईका महत्त्व स्वीकार करते हैं। बलवान् झूठ भी सत्यकी आड़में ही चलता है। यदि सत्यका पर्दा न हो तो झूठ चल ही नहीं सकता, परंतु सत्य बिना झूठके सहारा लिये ही चलता है; इससे भी सत्यका ही गौरव सिद्ध होता है। इसलिये बेटा! तुम्हें सदैव सच ही बोलना चाहिये।'

'माँ! सच बोलनेपर कई बार डाँट-फटकार भी सहनी पड़ती है। यदि मैं पिताजीसे कह दूँ कि मेरे पैसे अमुक काममें खर्च हुए हैं तो वे नाराज होते हैं और कभी-कभी दण्ड भी देते हैं; परंतु यदि वही बात छिपा लेता हूँ, तो वे कुछ नहीं बोलते; फिर मैं उनसे सच-सच कैसे कहूँ?'

'बेटा! तुम्हारे पिताजी बड़े समझदार हैं, उन्होंने दुनिया देखी है, उनका अनुभव बड़ा है, वे जिस कामसे रोकते हैं, वह तुम्हें कभी नहीं करना चाहिये; जब वे चाहते हैं कि तुम उन कामोंमें व्यर्थ पैसे न व्यय करो और तुम कर देते हो, तब उनका अप्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। वे तुम्हारे भलेके लिये ही तुमपर अप्रसन्न होते हैं। तुम वैसा काम ही न करो, जिससे वे अप्रसन्न हों। झूठ बोलकर छिपाना बड़ा पाप है, इससे तुम्हारी आदत बिगड़ जायगी और तुम्हारे भीतर बहुत-सी बुराइयाँ आजायँगी। जब कभी किसीको यह ज्ञात होगा कि तुमने झूठ बोलकर उसे धोखा दिया है, तब तो उसकी अप्रसन्नता और भी बढ़ जायेगी। एक झूठको सच बनानेके लिये सौ-सौ बार झूठ बोलना पड़ता है। झूठ बोलनेसे ही मनमें तरह-तरहके पाप आ बसते हैं। यदि तुम अपनी बातें सच-सच बतला दिया करोगे तो तुम्हारे सब पाप, सब बुराइयाँ स्वयं ही छूट जायँगी।'

'बेटा! तुम्हारे जो साथी झूठ बोलते हैं, उनसे अलग रहना ही अच्छा है; क्योंकि वे झूठके बलपर अपनी बहुत-सी बुराइयाँ छिपाये रखते हैं। उनके साथ रहने और हेल-मेल करनेसे वे दोष अपने अंदर भी आ जाते हैं और उसी तरह झूठ बोलकर दोष छिपानेकी बुरी आदत पड़ जाती है। तुम केवल वैसे लोगोंमें ही रहा करो, जो सच बोलते हों और जिनका चरित्र पवित्र हो। चरित्र ही सब कुछ है। जिसका आचरण ठीक है, उसकी बुद्धि बड़ी तेज होती है, वह किसीसे डरता नहीं, उसका चेहरा चमकता रहता है। शरीरके सुगठित बलवान् और सुन्दर होनेके लिये, मनके निर्भय और ज्ञानसम्पन्न होनेके लिये चरित्रकी रक्षा परम आवश्यक है। चरित्रकी रक्षाके लिये सत्य सबसे बड़ा सहारा है।

सत्यके साथ-साथ पहले कही हुई बातोंका भी ध्यान रखनेसे सबका प्यार और सबसे बढ़कर परमात्माका प्यार प्राप्त हो जाता है। उन बातोंको फिरसे याद कर लो—

१—सत्य ही बोला जाय।

*

२–कड़वी बात न कही जाय। मीठा बोला जाय।
३–भलाईकी ही बात कही जाय।
४–जहाँतक हो सके, थोड़ेमें ही अपनी बात पूरी कर दी जाय। अनावश्यक विस्तार या विवाद कभी न करे।
५–बिना अवसरकी कोई बात न कही जाय। अनवसरका बोलनेवाला हास्यास्पद होता है।

आशा है, तुम इन गुणोंको अपनाओगे। जब ये गुण तुम्हारे अंदर आ जायँगे, तब सब लोग तुम्हें अपना समझने लगेंगे। और, जब अपना समझने लगेंगे तब तुमसे निःसंदेह सब लोग (मेरी तरह ही) प्रेम भी करने लगेंगे।'

'क्या तुम इनका अभ्यास करोगे ?', माँ ने पूछा।
'हाँ, माँ ! मैं अवश्य करूँगा।' पुत्रने बड़े आदरसे कहा।

गायकी उपादेयता

(लेखक—श्रीरामानन्दजी तोष्णीवाल, बी० ए०, विशारद)

गाय हमारी सांस्कृतिक विरासत है। यह भारतीय संस्कृतिका पवित्रतम प्रतीक है। दूरदर्शी ऋषियोंने इसे धर्मके साथ अनुस्यूत करके जीवनका आवश्यक अंग बना दिया है। कोई भी पुण्य-कार्य या पर्व बिना गायके गोबरके लेपनके पूर्ण नहीं हो सकता। किसी भी प्रायश्चित्त या शुद्धिके लिये पंचगव्य (दूध, दही, घृत, गोमूत्र व गोबर) आवश्यक है। मृत्युके समय भी गोदानका अत्यन्त महत्त्व है। राजा-महाराजा भी अपनी स्मृतिके प्रतीक-स्वरूप गोदान किया करते थे। पुराणोंमें गोदानकी महिमा और कथाएँ भरी पड़ी हैं।

भारतीय संस्कृतिमें गौ, गङ्गा एवं तुलसीको माता माना गया है। यह मात्र कोरी कल्पना ही नहीं है। इसके पीछे उपयोगिताका ठोस आधार भी है। भारत सात लाख गाँवोंका देश है। भारतकी कल्पना गाँवको अलग रखकर नहीं की जा सकती और गाँवकी कल्पना बिना गाय, बैल व बछड़ेके नहीं की जा सकती। ये भारतके मूल आर्थिक स्रोत हैं। भारतके किसानकी प्रथम व प्रमुख सम्पत्ति गाय ही है। गोधन भारतका प्राचीनकालसे ही स्पृहणीय धन रहा है।

आधुनिक युगमें गाय ऊर्जाका प्रबलतम स्रोत है। गोबर-गैस-प्लांट सर्वत्र चल पड़ा है, यह सर्व विदित है। पेट्रोलकी महँगीके कारण ट्रैक्टरका उपयोग गरीब किसानकी पहुँचसे बाहर है। खेतसे घर व घरसे मंडीको माल ले जानेके लिये कृषकवर्ग बैलगाड़ीपर ही निर्भर है। देशमें जितना वजन रेल, ट्रक व ट्रैक्टर आदिसे ढोया जाता है, उससे ग्यारह गुना वजन अब भी बैलगाड़ियोंसे ढोया जाता है। छोटे-छोटे गाँवोंमें तो आज भी सवारीका साधन बैलगाड़ी ही है। बैलका उपयोग सिंचाई, जुताई व कोल्हू आदिके लिये किया जाता है। परंतु निरंतर गोहत्याके कारण गायों व बैलोंकी कीमत बहुत बढ़ गयी है। गोहत्या बन्द न होनेसे गोवंशका ह्रास दिनोंदिन होता चला जा रहा है। यह चिन्त्य है।

आज गाँवोंमें भी स्वाभाविक मौतसे कम ही गायें मरती हैं; क्योंकि इनकी रवानगी बूचड़खानोंकी तरफ होती रहती है। इसके फलस्वरूप गाँवोंके चर्मकारोंको खालें मिलना भी कठिन हो गया है। यही कारण है कि चमड़ेका गृह-उद्योग गाँववालोंके हाथसे निकल गया है। चमड़ेके बड़े-बड़े उद्योग फल-फूल रहे हैं, लेकिन गाँवके उद्योग ठप हो रहे हैं। चर्मकारकी रोजी छिन रही है और गाँववालोंको सस्ते जूते उपलब्ध नहीं होते।

गायकी इस उपयोगिताके कारण ही संविधानके अनुच्छेद ४८ (निदेशक-सिद्धान्त)में गोवंशके वधपर

रोक लगानेकी व्यवस्था की गयी है। उस समय संविधान-सभामें हिंदू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्य सभी सदस्योंने एकमतसे इसका समर्थन किया था। कालान्तरमें सन् १९५८ में उच्चतम न्यायालयने गाय, बछड़ा तथा बैलके वधपर रोक लगानेके लिये बने कानूनकी पुष्टि भी कर दी तथा पन्द्रह वर्षतककी आयुके पशुओंका वध भी अवैध घोषित कर दिया। इसके आधारपर देशके प्रायः सभी राज्योंने मात्र पश्चिम बंगाल व केरलको छोड़कर गोरक्षाके लिये कानून बनाये हैं। लेकिन इन दोनों राज्योंमें बूढ़ी तथा बेकार गायोंके नामपर गोहत्या जारी है। अन्य राज्यों-की गायें भी, जहाँपर कि गोवध बन्द है, इन राज्योंमें पहुँचायी जा रही हैं। फलतः यहाँ भी गोवध बन्दीका पूरा प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यदि गोवध-बन्दीवाले राज्य यह भी ध्यान रखें कि गोवधवाले राज्यमें हमारी गायें न जायँ तो उनके राज्यके गोवंशकी अधिक रक्षा हो और गोवध-बन्दी कानूनका मूल लक्ष्य सिद्ध हो। अतः इसपर कारगर उपाय करनेकी आवश्यकता है।

प्रायः प्रश्न यह उठाया जाता है कि बूढ़ी गायोंको क्या करें। गायकी औसत आयु १८से २० वर्षकी मानी जाती है तथा वह ४ से १६-१७ वर्षकी आयुतक दूध देती है। बूढ़ी होनेपर गायोंको गो-सेवा-सदनोंमें रखा जा सकता है। वहाँपर वह खादके लिये गोबर उपलब्ध कराती रहेगी। मरनेके बाद इसका चमड़ा, हड्डियाँ आदिका उपयोग विभिन्न उद्योगोंमें किया जा सकता है। इस प्रकारके गोसेवा-सदन धार्मिक संस्थाओंद्वारा 'न हानि, न लाभ' के आधारपर चलाये जा सकते हैं। धार्मिक जनता क्या इतना त्याग नहीं कर सकती कि स्थान-स्थानपर गोसदन या गोशालाएँ खोली जायँ तथा उनमें गायोंकी सेवा-शुश्रूषा धार्मिक दृष्टिसे की जाय?

गाय केवल भारतमें ही नहीं पूजी जाती, बल्कि अन्य देशोंमें भी इसका सम्मान है। नेपालमें गोवधपर तथा गायके निर्यातपर पूर्ण प्रतिबन्ध है। श्रीलंकामें भी गोवधपर पूर्ण प्रतिबन्ध लागू किया गया है। जापानमें भी सन् १९३४ तक गोवधपर पूर्ण प्रतिबन्ध था। चीनमें भी गोवधपर रोक थी, लेकिन प्रभावी तौरपर लागू नहीं किये जानेके कारण आज वहाँपर गाय नाममात्रके लिये ही शेष है। भारतमें भी मुगलसम्राट् अकबरके समयमें गोवधपर पूर्ण प्रतिबन्ध था जो कि तीन सौ वर्षोंतक लागू रहा। बादमें अंग्रेजोंने गोवध प्रारम्भ कर दिया; क्योंकि उन्हें अपने सैनिकोंके लिये मांसकी आवश्यकता थी। किंतु आस्तिक भारतके लिये यह अत्यन्त अवाञ्छनीय था। पर परतन्त्रताकी विवशतामें जनता जकड़ी हुई थी; उसकी भावना क्रियारूपमें पूर्णतः नहीं आ सकती थी। फिर भी गोरक्षाके लिये कई महान् पुरुषोंने अथक प्रयत्न किये हैं। महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तम-दासजी टंडन, लाला हरदेव सहाय, सेठ गोविन्द-दास इत्यादि महानुभावोंने अपने सम्पूर्ण जीवन गोरक्षाके लिये लगा दिये थे। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी तो गोरक्षाके प्रश्नको स्वराज्यसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। आज भी गोरक्षाके प्रश्नको गाँधीजीके ही शिष्य विनोबा-जीने फिरसे उठाकर देशको जाग्रत किया है। लेकिन दुर्भाग्यवश गाय फिर राजनीतिके दलदलमें फँस गयी है। गोरक्षा देशका पवित्र उत्तरदायित्व और कर्तव्य है। गाय हमारी पूज्य माता है।

समय आ गया है कि गायके राष्ट्रीय पक्षको उजागर किया जाय, गायकी अर्थवत्ताको सिद्ध किया जाय, गोचर-भूमिका विकास किया जाय तथा गोशालाओंका विकास उद्योगके रूपमें किया जाय। प्रत्येक गोशालाके पास एक गो-सेवा-सदन भी रहे, जिसमें बूढ़ी व अपंग गायें रखी जायँ। धर्मप्राण देशमें गोसदनों अथवा गो-रक्षिणी और पिंजरापोलोंकी व्यवस्था कठिन नहीं है। धार्मिकजन इधर ध्यान दें तो गोवध-बन्दीमें बहुत ही प्रगति हो जाय। ऐसा करनेसे ही भारतकी पुण्यभूमि गोहत्याके कलंकसे मुक्त हो सकती है।

सती भोगवती

विधिका विधान नहीं बदलता। महाराज विजयराजने कल्पनातक नहीं की थी कि उनके मन्त्री तथा पुरोहित उनकी सुन्दरी कन्याके लिये इतना कुरूप पति चुनेंगे। पुरोहितने भी राजकुमारको देखे बिना ही नारियल दे दिया था। शूरसेनके नरेश जानते थे कि उनके पुत्रको देखकर कोई अपनी कन्या नहीं देना चाहेगा, इसीसे विजयराजके मन्त्री तथा पुरोहितको उन्होंने समझाकर तथा दक्षिणासे संतुष्ट कर राजकुमारको दिखाये बिना ही नारियल ले लिया था।

विजयराजकी पुत्री अनुपम रूपवती थी। महाराजने एक ही पुत्री होनेसे उसे भलीभाँति शिक्षित कराया था। भोगवती अपनी विलक्षण प्रतिभाके प्रभावसे पुराण, इतिहास, दर्शनशास्त्र, नीति, धर्मशास्त्र तथा आचारशास्त्रमें पारङ्गत हो गयी थी। विजयराजने देखा कि जामाता नागरराज देखनेमें अत्यन्त कुरूप एवं भयानक है। लक्षणोंसे अत्यन्त क्रूर जान पड़ता है। कोई उपाय नहीं था। नारियल दिया जा चुका था। बारात आ चुकी थी। मन मारकर उन्होंने पुत्रीका विवाह कर दिया।

ससुराल जानेपर जब सासने अपनी परम रूपवती एवं सुशीला बहूको देखा तो उसका हृदय धक्से हो गया। इस सुकुमार बालिकाको वे अपने कुरूप एवं क्रूर पुत्रके पास कैसे भेजेंगी। महाराजको उन्होंने इस बातपर सहमत कर लिया कि पुत्रवधूको पुत्रसे दूर ही रखा जाय। महाराज भी अपने कियेपर पश्चात्ताप कर रहे थे।

भोगवतीको पुत्रवधूके रूपमें प्राप्तकर उसकी सासने प्रेमसे कहा—'बेटी! तुम्हारा पति राज्यके आवश्यक कार्यवश विदेश गया है।

'सखी! मेरे पतिदेव कब लौटेंगे?' अनेक बार भोगवतीने अपनी परिचारिकाओंसे पूछा। उसने अनुभव किया कि परिचारिकाएँ कुछ मुसकरा पड़ती हैं और कोई बात छिपा रही हैं। अधिक दिन बीतनेपर उसका संदेह बढ़ता गया। अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर उसकी एक अत्यन्त अन्तरङ्ग सहेलीने सब बातें सूचित कर दीं।

'मैं आपके दर्शन करना चाहती हूँ।' भोगवतीने अपनी सहेलीसे नागराजके पास संदेश भेजा।

'मुझे किसीसे मिलना नहीं है और न मैं किसीकी अपेक्षा करता हूँ।' नागराजने रूक्षतासे फटकार दिया। माता-पिताने उसे कठोर चेतावनी दी थी कि वह पत्नीसे मिलनेका प्रयत्न न करे। उसे इसमें अपना बड़ा भारी अपमान प्रतीत हुआ था। बहुत रुष्ट था वह।

'नाथ! इस दासीसे कौन-सा अपराध हो गया कि आपने इसे त्याग दिया है?' एक दिन सखीको लेकर स्वयं भोगवती पतिके शयनागारमें रात्रिको पहुँची। उसे देखकर नागराज उठकर बाहर चले जानेको उद्यत हुआ, किंतु भोगवतीने उसके पैर पकड़कर उनपर मस्तक रख दिया। वह फूट-फूटकर रो रही थी।

'तू यहाँ क्यों आयी? मेरे समीप तेरा कोई काम नहीं।' नागराजने उसे ठुकरा दिया। वह सहेलीके साथ लौट आयी। अब प्रतिदिन रात्रिमें वह पतिके शयनकक्षमें जाने लगी। थोड़ी देर पतिके चरण दबाती और फिर लौट आती। नागराज उसका प्रायः अपमान करता, किंतु उसने इधर कभी ध्यान ही नहीं दिया। पतिकी भयंकर धमकियोंकी उसने उपेक्षा कर दी।

'प्रिये! मेरा भद्दा रूप देखकर भी तू डरती नहीं?' अन्तमें एक दिन सेवासे प्रसन्न होकर नागराजने पूछा।

'स्त्रीके लिये तो पति ही परमेश्वर है। लोग टेढ़ी-मेढ़ी शालग्रामशिलामें परम सुन्दर भगवान्‌की भावना करते हैं। मैं तो आपको कुरूप नहीं देखती, फिर डरूँ क्यों?' भोगवतीने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया। दोनोंमें

प्रगाढ़ प्रेम हो गया। थोड़े दिनों पश्चात् दम्पति गोदावरी-स्नान करने गये। श्रद्धापूर्वक नागराजने ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके बड़ी भक्तिसे गोदावरीमें स्नान किया। सती भोगवतीके सतीत्वका प्रभाव, दानका फल तथा तीर्थकी महिमासे नागराजकी कुरूपता दूर हो गयी! वह इतना सुन्दर हो गया कि उसके पूर्व-परिचित उसे पहचान नहीं सकते थे। यात्रा समाप्त करके दोनों स्वदेश लौटे।

शूरसेननरेशका शरीरान्त हो चुका था। उनके छोटे पुत्रोंने निश्चय किया कि राज्य परस्पर विभाजित कर लिया जाय। वे नागराजको भाग नहीं देना चाहते थे। नागराज जब नगरके पास पहुँचे तो छोटे भाईयोंने नगरकी सीमाके द्वार बंद करा दिये। नागराजको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने युद्ध करके अपना भाग प्राप्त करनेका निश्चय किया।

'मेरी अल्प बुद्धिमें भाईयोंसे युद्ध करना उचित नहीं है। चाहे जो भी हो, वे आपके सहोदर बन्धु हैं। यदि भाईयोंमें फूट हुई तो शत्रु आक्रमण कर देंगे और राज्य न आपका रहेगा, न उनका। रावण और वाली दोनों, भाईयोंको शत्रु बनाकर ही नष्ट हुए। चाहे जैसे हो, भाइयोंसे मेल करनेमें ही कल्याण है।' भोगवतीने पतिको समझाया।

'वे हमें नगरमें ही नहीं आने देते, ऐसे भाईयोंसे मेल कैसे सम्भव है?' नागराजने पूछा।

'आप उन्हें आदरपूर्वक निमन्त्रण दीजिये कि हम तीर्थसे लौटे हैं, इसलिये नगरसे बाहर रहकर कथा सुनेंगे तथा ब्राह्मण-भोजन करायेंगे। वे आपके पुण्यकार्यमें अवश्य सम्मिलित होंगे।' भोगवतीने नीतिसे काम लेनेका विचार व्यक्त किया।

नगरसे बाहर आवास बना। नगरवासियोंके साथ भाईयोंको भी आमन्त्रित किया गया। वे सब आदरपूर्वक बुलाये गये थे, अतः आये। नागराजने उनका भली भाँति सत्कार किया। भोगवतीने भी उनका सावधानीसे स्वागत किया। ध्रुव, वामन एवं भरतके चरित्रकी कथाएँ हुईं। भ्रातृप्रेमकी इन कथाओंको सुनकर तथा नागराज एवं भोगवतीके व्यवहारको देखकर नागराजके उन छोटे भाईयोंको बड़ी लज्जा आयी। उन्होंने बड़े भाईके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी। नागराज पिताके सिंहासनपर अभिषिक्त हुए। पत्नीके पातिव्रत्य और नीति-निपुणताने दोनोंका जीवन सुखमय कर दिया। वस्तुतः पतिव्रता धर्म सर्वश्रेष्ठ नारीधर्म है।

दाम्पत्य-धर्म

विश्वके विचारकों, चिन्तकों और मनीषियोंने भारतीय संस्कृतिको जिन कारणोंसे विश्वमें उसे संस्कृतियोंकी मुकुटमणि स्वीकार किया है उनमें अन्यतम है—दाम्पत्य-बन्धन। भारतीय दाम्पत्य-बन्धन नर-नारीकी परस्पर एक साधारण अपेक्षा—सम्बन्ध नहीं, अपितु धर्म्य-बन्धन है; जिसमें दोनों बँधकर संसार-बन्धनसे मुक्त होनेका अनुष्ठान करते हैं। विश्व-व्यवस्थाके लिये पति-पत्नी-भावकी दिव्यता भारतीय नर-नारियोंमें अनादिकालसे चली आ रही है। यही कारण है कि जगत्के मूल कारण भगवान् शंकर—'गौरी-शंकर' रूपमें और विश्व-व्यवस्थापक एवं पालक विष्णु 'लक्ष्मीनारायण' रूपमें प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये शक्ति और शक्तिमान्की युगलमूर्तिके रूपमें प्रतिष्ठित हमारे देव सभी माङ्गलिक कृत्योंमें सदैव नमस्कृत होते हैं—'वाणीहिरण्यगर्भाभ्यां नमः,' 'लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः,' 'उमामहेश्वराभ्यां नमः'।

वस्तुतः हमारा सम्पूर्ण धार्मिक जीवन ही वैवाहिक जीवनमें अनुस्यूत है, जिसमें पति और पत्नीका धर्म्य साहचर्य परस्परके प्रेम-सद्भाव, कर्तव्यनिष्ठा प्रभृति शास्त्रनिर्दिष्ट पति-पत्नी-धर्मपर निर्भर है। अतः जहाँ पातिव्रत्य पत्नीका अद्वितीय धर्म है, वहीं एकपत्नी-व्रत पतिका अनुष्ठेय कर्तव्य है। यही हमारी भारतीय सांस्कृतिक स्वर्णशृङ्खलाकी समीचीन शिक्षा है।

चित्तकी प्रसन्नताका सबल माध्यम—भजन-गान

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

हर्ष और शोकके अवसर मानव-जीवनमें प्रायः आते और जाते रहते हैं। कभी थोड़ा सुख और कभी अधिक दुःखका क्रम प्रायः चक्रवत् चलता रहता है। दुःखमें बहुतसे मनुष्य उदास, मुरझाये रहते हैं, उनका मुख चिन्ताग्रस्त बना रहता है। मन कुण्ठाओंसे भरा होता है। प्रसन्न मुखाकृति चित्तके सात्त्विक प्रसाद-पर निर्भर है, जो मानव-जीवनकी बहुत बड़ी उपलब्धि है। बहुत कम व्यक्ति इस उपलब्धिको प्राप्त कर पाते हैं—शान्त चित्तवृत्ति और चित्तकी प्रसन्नतासे जो सुख प्राप्त होता है वैसा उत्तमोत्तम विषयसुख भोगोंसे कदापि प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि विषयजनित तथा भोगोंसे प्राप्त सुख क्षणिक और अन्ततः अशान्ति एवं दुःखका कारण बनता है; 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'—अशान्त व्यक्तिको सुख कहाँ ?

चित्तकी प्रसन्नताके अनेक कारण हो सकते हैं। दीर्घकालके बाद कोई मित्र या प्रिय व्यक्ति मिलता है तो प्रसन्नताका अनुभव होता है। पुत्र-जन्म, विवाहादि माङ्गलिक प्रसङ्गोंपर स्वाभाविक आनन्ददायी प्रसन्नता होती है, पर इन सब ऊपरी, बाहरी प्रसन्नताओंकी अपेक्षा देवदर्शन, आराध्य-पूजन, संतोंके दर्शन, स्वाध्याय, तत्त्व-श्रवण, सत्सङ्ग, हरिकीर्तन, भजन-गायन आदिमें जो सात्त्विक प्रसन्नता होती है, वह बहुत गहरी, ठोस और सार्थक होती है। भजनादिसे प्राप्त चित्तकी प्रसन्नताओंको बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। जैन कवि आनन्दघनजीके अनुसार—

चित्त प्रसन्न रे पूजन फल कहयूँ, पूजा अखण्डित एह।
कपट रहित भई आत्म आपणा, आनन्द घन पद रेह॥

वास्तवमें भगवान्‌की भक्ति, पूजा-उपासना, संत-तथा दीनोंकी-सेवा और भगवद्-गुणानुवादमें भक्तको जैसा आनन्द मिलता है, वैसा सुख संसारकी किसी बातमें नहीं मिलता। जब कोई भी व्यक्ति या साधक भक्ति-भावपूर्वक तन्मय होकर भजनोंके माध्यमसे भगवद्‌गुणानुवाद करता है, तब वह भूख-प्यास तथा अन्य सब सांसारिक कार्योंको भूल जाता है। इसीलिये चित्त-प्रसन्नताके अनेक साधनोंमें भगवद्-भजन तथा प्रभु-गुणगान अथवा अध्यात्मभावी पदोंके गायनमें अपनेको भुला देना, भजनके भावोंके साथ तल्लीन हो जाना बड़ा आनन्ददायी होता है। ऐसे कुछ भजनोंको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। उन्हें नित्य-प्रति एकान्तमें तथा विशेष अवसरोंपर गाना तथा गुनगुनाना चाहिये। भजन-गायनकी इस साधनासे मनकी मग्नता तथा एकाग्रता सहज ही प्राप्त हो सकती है जो दुरूह यौगिक क्रियाओं-द्वारा भी दुष्प्राप्य है।

भजन-गानके लिये एकदम प्रातःकाल या अपररात्र (ब्राह्म मुहूर्त)का समय अधिक उपयुक्त है। इसीलिये लोग दैनिक काम-काज एवं खाने-पीनेसे निवृत्त होकर स्वयं व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूपमें भजन गाकरके सहज ढंगसे चित्तकी प्रसन्नता प्राप्तकर अपना मानसिक तनाव दूर कर लेते हैं। इसके लिये लोग रात-रातभर जागरणतक करते हैं। भजन गानेवाले और सुननेवाले दोनों ही तन्मयतासे झूम उठते हैं। प्रायः देखनेमें आता है कि श्रमिक-वर्गके लोग दिनभर कठिन परिश्रम करनेके उपरान्त रात्रिमें जब ढोलकी तथा मंजीर आदिके साथ मण्डली बनाकर एक दूसरेके स्वरमें स्वर मिलाते हुए (समवेतस्वरमें) तन्मय होकर गाते हैं तो वे दिनभरकी समस्त शारीरिक तथा मानसिक थकावट दूरकर हृदयमें एक अनिवर्चनीय प्रसन्नताकी अनुभूति प्राप्त करते प्रतीत होते हैं।

सत्य है कि हृदयमें जब-जब पवित्र तथा सात्त्विक भावोंका उदय होता है, तब-तब अन्तर्मनका समस्त

कालुष्य धुलने लग जाता है और अशान्ति मिट जाती है। अपनी वेदनाओं तथा दुःखोंकी स्मृतियोंको भी मनुष्य तब भूलने लगता है और चित्तमें प्रसन्नता छा जाती है। उस प्रसन्नता या प्राप्त आनन्दका वर्णन नहीं किया जा सकता; वह तो केवल अनुभवकी वस्तु है। चित्तकी इस प्रसन्नतासे शरीर और मन दोनों ही बड़ी स्वस्थताका अनुभव करते हैं। हृदयमें आनन्दकी लहरें उछलने और मचलने लगती हैं। योगियों तथा भगवान्‌के भावुक भक्तोंकी चित्त-प्रसन्नताका यही रहस्य है तथा ऐसे सात्त्विक आनन्दके आगे स्वर्गीय-सुख भी नगण्य है।

कीर्तन तथा भजन-गायनकी परम्परा बहुत प्राचीन है। समय-समयपर अनेक भक्तों एवं संतोंने भक्ति तथा अध्यात्मभावोंसे पूरित हजारों पदोंकी रचनाएँ कीं। ऐसी रचनाएँ उनकी भावोल्लासकी अनुभवगम्य वाणियाँ हैं, जो हृदयस्पर्शी, मर्मको छूनेवाली, सात्त्विक भावोंको जगानेवाली अमृतकी अद्भुत धाराएँ हैं। उनमें निमज्जन करके भगवद्-भक्ति, वैराग्य और अध्यात्म-जागरणकी सहज प्रेरणा मिलती है और अपूर्व रसानुभूति प्राप्त होती है।

हमारे देशके प्रायः सभी प्रान्तों या प्रदेशोंमें अनेक संत तथा भक्त कवि हुए हैं जिनके भजनोंके अनेक संग्रह-ग्रन्थ, तमिल, तेलगू, गुजराती, मराठी, बंगला तथा हिंदी, अवधी, व्रज, राजस्थानी आदि प्रमुख भाषाओंमें प्राप्य हैं। संत-सम्प्रदायमें भजनको 'पद' की संज्ञा दी गयी है। महापुरुषोंके वचन जीवनमें कायापलट कर देते हैं। पापात्मा भी धर्मात्मा बन जाते हैं। भजनोंकी इस अपूर्वशक्ति और महिमाको बहुतोंने अनुभव किया है। उन भावमयी रचनाओंको लय एवं तालके सहित गाते और सुनते समय अजीब मस्तीका नशा-सा छा जाता है। आत्मविभोर होकर उन पदावलियोंकी एक-एक कड़ी या पंक्तिकी अनेक बार पुनरावृत्ति करके चित्त अनायास प्रफुल्लित हो उठता है। मुरझाया हुआ मुखमण्डल अनायास खिल जाता है। मन-मयूर नर्तन करने लगता है।

वर्तमान युगमें भजनानन्दी संत और भक्तजनोंमें महाराष्ट्रके 'तुकड़ोजी' महाराजको काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। जब वे डफली बजाते हुए भजन गाते थे तो हजारों व्यक्ति तन्मयतासे झूम उठते थे। आज भी अमरावतीके गुरुकुञ्ज-आश्रमकी ओरसे भजन-प्रशिक्षणका कार्यक्रम चलाया जाता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी प्रतिदिन प्रातः और सायं प्रार्थना तथा आध्यात्मिक पद-कीर्तनका नियमित आयोजन निश्चितरूपसे रखा करते थे। उस प्रार्थनामें **'वैष्णव जण तो तेणो कहियो, जिण पीर पराई जाणे रे'** जैसे भजन भी गाये जाते थे। कहा जाता है कि गाँधीजी और गायक एवं श्रोता सभीके चित्तोंमें लोकोत्तर प्रसन्नताके साथ उत्तम, सात्त्विक भावोंकी अनुभूति होती थी। भजनोंको पढ़ जाना एक बात है, पर समुचित स्वर-लहरी और प्रेरक वाद्योंकी संगतिके साथ गाया जाना कुछ दूसरी ही बात है। वाद्योंकी संगतिसे गाये जानेवाले भजन या पद हृदयपर कुछ दूसरा ही प्रभाव छोड़ते हैं। उस स्थितिमें हृदय-कमल प्रस्फुटित होकर चित्त आनन्दके उद्रेकसे तरङ्गित हो उठता है। चित्तकी इस प्रसन्नता तथा उच्चकोटिके भावोंके उदयके हेतु उन भजनों तथा पदोंके आन्तरिक सौन्दर्य, माधुर्य तथा तात्त्विक-प्रभाव हैं, जो हृदयको सहज-स्वाभाविक रूपमें आकर्षित करके तादृक्‌रूप होने तथा प्रेमानुभूति जाग्रत करनेकी अद्भुत शक्ति रखते हैं। ऐसी पदावलियोंमें कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरा, नरसी और तुकाराम आदि संतोंके भजन तथा पद और 'शब्द' अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायोंके मन्दिरोंमें भगवान्‌के सम्मुख पद-गान (अष्टछापके कवियोंकी वाणियाँ) तथा हरिनाम-संकीर्तन करनेकी विशेष परिपाटी है। इसी प्रकार उत्तर तथा

दक्षिण भारतके प्रायः सभी छोटे-बड़े वैष्णव-मन्दिरोंमें पद-गायनकी यह मान्य परम्परा प्रचलित है। जैन-मन्दिरोंमें (विशेषतः दिगम्बर-सम्प्रदायके मन्दिरोंमें) नित्य शास्त्र-स्वाध्यायके साथ आध्यात्मिक भजन गानेकी परम्परा आज भी चली आ रही है।

भारतके संत-समुदाय, आचार्यों तथा भक्तोंद्वारा आरम्भ की गयी इस उत्तम साधना-प्रणालीसे सतत प्रेरणा लेनेकी आजके इस अशान्त युगमें बड़ी आवश्यकता है। घर-घरमें और व्यक्ति-व्यक्तिमें उमंग प्रेम और निर्द्वन्द्व-भक्ति-भावसे भावित होकर भजन-गानकी इस आध्यात्मिक लोक-कल्याणकारी परम्पराका शुभारम्भ होना चाहिये। यदि प्रयासपूर्वक इस सुगम साधनामय परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखा गया तो व्यक्ति और समाजमें व्याप्त बुराइयोंके दूर होनेके साथ ही आध्यात्मिकलाभ तो निश्चित है ही; सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रयोगसे सात्त्विक भावोंकी जागृतिके प्रकाशमें आजके व्यग्र मानवको दुष्प्राप्य—चित्तकी सहज प्रसन्नता स्वाभाविक ही प्राप्त होगी; जो मानव-जीवनके लिये अत्यन्त मूल्यवान् तथा उसके उन्नयन एवं सब प्रकारकी श्रेय-प्राप्तिमें आवश्यक रूपसे सहायक है।

साधकोंके प्रति—

[अनुभवका रहस्य]

अनुभव परमात्माका होता है, संसारका नहीं। संसार दिखायी तो देता है, परंतु उसका अनुभव नहीं होता। अनुभव करना स्वयं (आत्मा)का कार्य है और देखना इन्द्रियोंका। देखना दो प्रकारका होता है—(१) इन्द्रियोंके द्वारा जिसे इन्द्रियजन्यज्ञान कहते हैं और (२) बुद्धिके द्वारा, जिसे बुद्धिजन्यज्ञान कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंका ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है। इन्द्रियजन्यज्ञानसे शरीर और संसार दोनों सत्य, अविनाशी और स्थिर दिखायी देते हैं और बुद्धिजन्य ज्ञानसे ये दोनों असत्य, नाशवान् और प्रतिक्षण परिवर्तनशील दिखायी देते हैं। इन्द्रियजन्यज्ञानसे यह शरीर अच्छा (उत्तम) दिखायी देता है, परंतु बुद्धिजन्यज्ञानके अनुसार देखनेपर विदित होता है कि यह शरीर पहले रज-वीर्यका एक छोटा-सा बिन्दुरूपमें ज्ञात होता है, उसके पहले वह अन्नरूपमें जाना जाता है और उसके भी पहले वह मिट्टीरूपमें अभिज्ञात होता है। वस्तुतः शरीर पहले भी मिट्टी था और मरनेके बाद भी मिट्टी हो जायगा अतएव यह अब भी मिट्टी ही है।

बुद्धिजन्यज्ञानके आगे इन्द्रियजन्यज्ञानका कोई महत्त्व नहीं है। जिस प्रकार मध्याह्नकालमें (सूर्यके तेज प्रकाशके सामने) १०० या १००० वाटका बल्ब जला दिया जाय तो भी वह केवल दिखायी देता है, प्रकाश नहीं करता; उसी प्रकार बुद्धिका प्रकाश (बुद्धिजन्यज्ञान) तेज हो जानेपर उसके सामने इन्द्रियोंका प्रकाश (इन्द्रियजन्यज्ञान) रहते हुए भी वह निष्प्रभाव ही रहता है, उसका कोई महत्त्व नहीं होता। यदि आप परमात्माका अनुभव करना चाहते हैं, तो केवल बुद्धिजन्यज्ञानको महत्त्व दें। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानको महत्त्व देंगे, तो चाहे जितना भी पढ़-सुन लें, सोच-समझ लें, भजन-ध्यान कर लें या समाधि भी लगा लें, किंतु परमात्माका अनुभव कभी नहीं हो सकेगा और सदा संसारमें ही फँसे रहेंगे।

'देखना' किसी प्रकाशके रहनेपर ही होता है। प्रकाशके बिना कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती।

प्रकाशके रहनेपर ही इन्द्रियाँ और विषय तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध प्रकाशित होता है। बुद्धि भी किसी प्रकाशके कारण ही प्रकाशित होती है। वह प्रकाश बुद्धिके ठीक-ठीक जाननेको भी प्रकाशित करता है और ठीक-ठीक न जाननेको भी; जैसे—हम कहते हैं कि 'अमुक बात समझमें नहीं आयी, बुद्धि ठीक काम नहीं कर रही है' आदि। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश 'व्यष्टि प्रकाश' है। उस 'व्यष्टि प्रकाश' को भी जो प्रकाशित करता है, वह परम प्रकाश ही वास्तविक प्रकाश, आत्मा या परमात्मा है, जिसका अनुभव होता है। उसके अनुभवके बिना अन्य किसीका भी अनुभव नहीं होता। वह परम प्रकाश 'व्यष्टि प्रकाश' को प्रकाशित करता है, 'व्यष्टि प्रकाश' बुद्धिको प्रकाशित करता है, बुद्धि इन्द्रियोंको प्रकाशित करती है और इन्द्रियाँ विषयोंको प्रकाशित करती हैं। किंतु फिर भी हमारी विषयोंके प्रति तो (मोह) आसक्ति हो जाती है पर उस परम प्रकाशका अनुभव हमें नहीं हो पाता, जो सम्पूर्ण प्रकाशोंका मूल प्रकाशक है। परन्तु विषयोंसे मुख मोड़ लेनेपर ही उस परम प्रकाश (परमात्मा) का अनुभव हो सकता है। भगवती श्रुति कहती है —

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठ० २। १। १)

'स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने समस्त इन्द्रियोंके द्वार बाहरकी ओर जानेवाले ही बनाये हैं, इसलिये मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा प्रायः बाहरकी वस्तुओंको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं। किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान् मनुष्यने ही अमरपदको पानेकी इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे लौटाकर अन्तरात्माको देखा है।' श्रीमद्भगवद्गीता (३। ४२। ४३)में भी भगवान्ने आत्माको बुद्धिसे पर (अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ) जानकर समस्त कामनाओंको मिटा देनेके लिये कहा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इस विषयमें (रा० च० मा० १। ११६। ३)में कहा है—

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

वस्तुतः विषय, इन्द्रियाँ, जीवन (अहंभाव) आदिको निरपेक्षरूपसे प्रकाशित करनेवाले परम प्रकाशक परमात्माका ही अनुभव होता है; परन्तु हम अनुभवपर ध्यान न देकर देखनेकी ओर ही ध्यान देते हैं और उसीमें फँस जाते हैं। उस परम प्रकाशक परमात्माके विषय (गीता १३। १७)में कहा गया है कि—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

'वह (परमात्मा) ज्योतियोंका भी ज्योति एवं तम (अज्ञान)से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें विशेष रूपसे स्थित है।'

एक कविने कहा है—

जो ज्योतियोंका ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता।
अव्यय सनातन दिव्य दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता॥

सबके हृदयमें समानरूपसे विराजमान उस परम प्रकाशक परमात्माका सबसे पहले अनुभव होता है, उसके बाद (दूसरे नम्बरपर) संसार दीखता है। अनुभव देखनेके पहले होता है, न कि देखनेके बाद; जब हम किसी वस्तुको देखते हैं तो सबसे पहले प्रकाश ही दिखायी देता है, प्रकाशित होनेवाली वस्तु उसके बादमें ही दिखायी देती है; परन्तु हमारी दृष्टि प्रकाशित होनेवाली वस्तु पर ही रहती है। प्रकाशकी ओर ध्यान न जानेके कारण हमें उस प्रकाशका अनुभव नहीं हो पाता। संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, अतएव उसका कभी अनुभव हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। वह प्रकाशक नहीं है, प्रकाश्य है—'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।' (क्रमशः)

श्रीगणेश-चतुर्थीव्रतका पूजा-विधान

यदि निकट भविष्यमें किसी अनिवार्य संकटकी आशङ्का हो या पहलेसे ही व्यक्तिकी संकटापन्न[1] अवस्था बनी हुई हो तो उसके निवारणार्थ श्रीगणेश-चतुर्थीका व्रत करना चाहिये। यह सभी महीनोंमें कृष्णा चतुर्थीको किया जाता है। तिथि चन्द्रोदयव्यापिनी ग्रहणकी जाती है। यदि वह दो दिन चन्द्रोदयव्यापिनी[2] हो तो प्रथम दिन ही व्रत करे। व्रतीको चाहिये कि वह उक्त चतुर्थीको प्रातः स्नानादि करनेके अनन्तर दाहिने हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर—'**मम वर्तमानागामिसकलसंकटनिरसनपूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये संकष्टचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये**'—यह संकल्प करके दिनभर मौन रहे और सायंकालके समय पुनः स्नान करके चौकी या वेदीपर '**तीव्रायै**[3], **ज्वालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै, कामरूपिण्यै, तेजोवत्यै, सत्यायै च दिक्षु विदिक्षु,मध्ये विघ्ननाशिन्यै सर्वशक्तिकमलासनायै नमः**' इन मन्त्रोंसे पीठपूजा कर वेदीपर स्वर्णादिनिर्मित गणेशजीकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करे। फिर उसे—(१) '**गणेशाय नमः**' से आवाहन, (२) '**विघ्ननाशिने नमः**'से आसन, (३) '**लम्बोदराय नमः**'से पाद्य, (४) '**चन्द्रार्घ्यधारिणे नमः**'से अर्घ्य, (५) '**विश्वप्रियाय नमः**'से आचमन, (६) '**ब्रह्मचारिणे नमः**'से स्नान, (७) '**कुमारगुरवे नमः**'से वस्त्र, (८) '**शिवात्मजाय नमः**'से यज्ञोपवीत, (९) '**रुद्रपुत्राय नमः**'से गन्ध, (१०) **विघ्नहर्त्रे नमः**'से अक्षत, (११) '**परशुधारिणे नमः**'से पुष्प, (१२) '**भवानीप्रीतिकर्त्रे नमः**'से धूप, (१३) '**गजकर्णाय नमः**'से दीपक, (१४) '**अघनाशिने नमः**'से नैवेद्य (आचमन), (१५) **सिद्धिदाय नमः**'से ताम्बूल और (१६) '**सर्वभोगदायिने नमः**'से दक्षिणा अर्पित करके षोडशोपचारपूजन करे और कर्पूर अथवा घीकी बत्ती जलाकर नीराजन (आरती) करे। इसके पीछे दूर्वाके दो अङ्कुरोंको लेकर '**गणाधिपाय नमः २, उमापुत्राय नमः २, अघनाशाय नमः २, एकदन्ताय नमः २, इभवक्त्राय नमः २, मूषकवाहनाय नमः २, विनायकाय नमः २, ईशपुत्राय नमः २, सर्वसिद्धिप्रदाय नमः २, कुमारगुरवे नमः**' से दो-दो और फिर—

गणाधिप नमस्तेऽस्तु उमापुत्राघनाशन।
एकदन्तेभवक्त्रेति तथा मूषकवाहन॥
विनायकेशपुत्रेति सर्वसिद्धिप्रदायक।
कुमारगुरवे तुभ्यं पूजयामि प्रयत्नतः॥

दूर्वा चढ़ावें तथा इस पूरे मन्त्रसे एक दूर्वा अर्पणकर '**यज्ञेन यज्ञ०**[4]' से मन्त्र-पुष्पाञ्जलि अर्पित करे और—

संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा
संकष्टभूतं सुमुख प्रसीद।
त्वं त्राहि मां मोचय कष्टसंघा-
न्नमो नमो विघ्नविनाशनाय॥

—से नमस्कारकर '**श्रीविप्राय नमस्तुभ्यं साक्षाद्देवस्वरूपिणे। गणेशप्रीतये तुभ्यं मोदकान् वै ददाम्यहम्॥**'से मोदक, सुपारी, मूँग और दक्षिणा रखकर वायन (वायना) दे। इसके बाद चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका गन्ध-पुष्पादिसे विधिवत् पूजनकर '**ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से चन्द्रमाको शङ्खमें दूध, दूब, सुपारी तथा अक्षतगन्ध लेकर अर्घ्य दे और—

नमो मण्डलदीपाय शिरोरत्नाय धूर्जटेः।
कलाभिर्वर्धमानाय नमश्चन्द्राय चारवे॥'

---

१. यदा संक्लेशितो मर्त्यो नानादुःखैश्च दारुणैः। तदा कृष्णचतुर्थ्यां वै पूजनीयो गणाधिपः॥ (भविष्यपु०)

२. चतुर्थी गणनाथस्य मातृविद्धा प्रशस्यते। मध्याह्नव्यापिनी चेत् स्यात् परतश्चेत् परेऽहनि॥

३. प्रत्येकमें नमः जोड़ना—जैसे तीव्रायै नमः, ज्वालिन्यै नमः आदि कहना समुचित है।

४. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

से प्रार्थना करे। फिर—

गणेशाय नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायक।
संकष्टं हर मे देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

से गणेशजीको तीन अर्घ्य देकर—

तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वसिद्धि प्रदायिके॥

से तिथिको अर्घ्य दे। पीछे सुपूजित गणेशजीका—

आयातस्त्वमुमापुत्र ममानुग्रहकाम्यया।
पूजितोऽसि मया भक्त्या गच्छ स्थानं स्वकं प्रभो॥

से विसर्जनकर ब्राह्मणोंको भोजन कराये और स्वयं तैलवर्जित एक बार भोजन करे।

गणेशजीके इस व्रतमें चन्द्रमाकी प्रधानताका कारण बताते हुए ब्रह्माण्डपुराणमें कहा गया है कि जब पार्वतीने गणेशजीको प्रकट किया; उस समय इन्द्र-चन्द्रादि सभी देवताओंने आकर उनका दर्शन किया, किंतु शनिदेव दूर रहे; कारण यह था कि उनकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी और पदार्थके टुकड़े हो जाते हैं। परंतु पार्वतीके रुष्ट होनेसे शनिने गणेशजीपर दृष्टि डाली। फल यह हुआ कि गणेशजीका मस्तक उड़कर अमृतमय चन्द्रमण्डलमें चला गया। दूसरी कथा यह है कि पार्वतीने अपने शरीरके मैलसे गणेशजीको उत्पन्न करके उनको द्वारपर बैठा दिया। जब थोड़ी देर बाद शिवजी आकर अंदर जाने लगे, तब गणेशजीने उनको नहीं जाने दिया। तब उन्होंने अनजानमें अपने त्रिशूलसे उनका मस्तक काट डाला और वह चन्द्रलोकमें चला गया। इधर पार्वतीकी प्रसन्नताके लिये शिवजीने हाथीके सद्योजात बच्चेका मस्तक मँगवाकर गणेशजीमें जोड़ दिया। विज्ञानियोंका विश्वास है कि गणेशजीका असली मस्तक अब भी चन्द्रमामें है और इसी सम्भावनासे चन्द्रमाका दर्शन किया जाता है। यह व्रत ४ या १३ वर्षोंतक करनेका है, अतः अवधि समाप्त होनेपर इसका उद्यापन करे। उसमें सर्वतोभद्रमण्डलपर कलशस्थापन करके उसपर गणेशजीकी स्वर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। ऋतुकालके गन्ध-पुष्पादि धारण कराये। उसी जगह चाँदीके चन्द्रमाका अर्चन करे। नैवेद्यमें—

इक्षवः सक्तवो रम्भाफलानि चिमटास्तथा।
मोदक नारिकेलानि लाजा द्रव्याष्टकं स्मृतम्॥

के अनुसार इन ८ पदार्थोंका संग्रह करे। घी, तिल, शर्करा और बिजोरेके टुकड़ोंको एकत्र करके इनका सविधि हवन करे। इसके पीछे २१ मोदक लेकर १ गणजय, २ गणपति, ३ हेरम्ब, ४ धरणीधर, ५ महागणाधिपति, ६ यज्ञेश्वर, ७ शीघ्रप्रसाद, ८ अभङ्ग-सिद्धि, ९ अमृत, १० मन्त्रज्ञ, ११ किन्नाम, १२ द्विपद, १३ सुमङ्गल, १४ बीज, १५ आशापूरक, १६ वरद, १७ शिव, १८ कश्यप, १९ नन्दन, २० सिद्धिनाथ और २१ ढुण्ढिराज—इन नामोंसे एक-एक मोदक अर्पित करे। इसके अतिरिक्त गोदान, शय्यादान आदि देकर और ब्राह्मण-भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। उक्त २१ मोदकोंमेंसे एक गणेशजीके लिये छोड़ दे। १० ब्राह्मणोंको दे और १० अपने लिये रक्खे।

श्रीगणेशचतुर्थी-व्रत कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें मयूरध्वज नामका राजा बड़ा प्रभावशाली और धर्मज्ञ था। एक बार उसका पुत्र कहीं खो गया और बहुत अनुसंधान करनेपर भी न मिला। तब मन्त्रिपुत्रकी धर्मवती स्त्रीके अनुरोधसे राजाके सम्पूर्ण परिवारने चैत्रकृष्णा चतुर्थीका बड़े समारोहसे यथाविधि व्रत किया। तब भगवान् गणेशजीकी कृपासे राजपुत्र आ गया और उसने मयूरध्वजकी आजीवन सेवा की।

यह व्रत प्रत्येक मासमें किया जाता है, पर आरम्भ भाद्रपदकी शुक्ला चतुर्थीसे होता है। श्रावण मासकी संकट चतुर्थीका कुछ विशेष विधान है। सारांश यहाँ दिया जा रहा है—

संकष्ट-चतुर्थीकी विशेषता—प्रातःकाल सूर्योदिसे व्रतकी भावना निवेदित कर **'मम सर्वविधसौभाग्यसिद्ध्यर्थं सङ्कष्टहरगणपतिप्रीतये संकष्टचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये'**—यह संकल्प करे।

वस्त्राच्छादित वेदीपर मूर्तिमान् अथवा फलस्वरूप गणेशजीको स्थापित करके **'कोटिसूर्यप्रभं देवं**

गजवक्त्रं चतुर्भुजम्। पाशाङ्कुशधरं देव ध्यायेत् सिद्धिविनायकम् ॥ से गणेशजीका ध्यान करके उनका पूजन करे और २१ दूर्वा लेकर गणाधिपाय नमः २ उमापुत्राय नमः २, अघनाशाय नमः २, एकदन्ताय नमः २, इभवक्त्राय नमः, मूषकवाहनाय नमः २, विनायकाय नमः २, ईशपुत्राय नमः सर्वसिद्धिप्रदायकाय नमः २, कुमार गुरवे नमः २—इन नामोंसे प्रत्येक नामके साथ दो-दो दूर्वा और गणाधिपादि दोनों नामोंके द्वारा एक दूर्वा अर्पित करे। अन्तमें नीराजन करके पुष्पाञ्जलि दे, प्रार्थना करे। पुनः गणेशजीको अर्घ्य देकर तिथिको भी अर्घ्य दे और तब भोजन करे। गणेशजीके अर्घ्यका मन्त्र है—

गजानन नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं संकष्टं नाशयाशु मे ॥

तिथिको अर्घ्य देनेका मन्त्र है—

तिथिनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे।
सर्वसम्पत्प्रदे देवि गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥

विशेष—श्रावणमें लड्डू, भादोंमें दही, आश्विनमें उपवास, कार्तिकमें दध्योदन खाने और मार्गशीर्षमें निराहार रहने तथा पौषमें गोमूत्र, माघमें तिल, फाल्गुनमें घी-शक्कर, चैत्रमें पञ्चगव्य, वैशाखमें शतपत्रिका, ज्येष्ठमें घी और आषाढ़में मधु-प्राशन (लेने) का विधान है। व्रतीको पृथ्वीपर शयन करना चाहिये। क्रोध, लोभ, मोहादिसे रहित होकर प्रतिमास एक वर्ष, तीन वर्ष या जन्मभर यह व्रत करनेसे संकट दूर होकर शान्ति मिलती है और ऋद्धि-सिद्धिसे सम्पन्न होकर वह सुखी होता है। कुमारी व्रतिनीको सुयोग्य वर मिलता है, सौभाग्यव्रतीको सौभाग्यकी वृद्धि होती है और विधवा अगले जन्मोंमें सौभाग्य प्राप्त करती है।

देवीके कुछ प्रमुख सिद्धपीठ और उनकी महिमा

तन्त्रों, श्रीमद्भागवत, देवीभागवत एवं कालिकादि पुराणोंके अनुसार प्रजापति दक्षने जब अपने 'बृहस्पतिसव' नामक यज्ञमें अन्य सब देवताओंको तो आमन्त्रित किया किंतु द्वेषवश अपनी पुत्री सती एवं जामाता भगवान् शंकरको निमन्त्रित नहीं किया। इसपर पतिके अपमान न सह सकनेसे सतीने यज्ञकुण्डसे उत्तर बैठकर योगाग्निद्वारा अपने प्राणोंकी आहुति दे दी। तब भगवान् शिव शोकाकुल होकर सतीके शवको लेकर यत्र-तत्र भटकने लगे। यह देख भगवान् विष्णु विश्वके कल्याणके निमित्त सतीके शवमें प्रविष्ट होकर उसे अपने चक्रसे टुकड़े टुकड़े करने लगे। सतीके शरीरके खण्ड तथा आभूषण जिन-जिन स्थानोंपर गिरे, उन-उन स्थानोंपर एक दिव्य शक्ति एवं एक वर्ण तथा भैरवकी मूर्ति भी आविर्भूत होती गयी। इन्हीं स्थानोंको शक्तिपीठ कहा जाता है। उनके ये अङ्ग ५१ स्थलोंपर गिरे। अतः 'शिवचरित्र' तथा 'दाक्षायणी-तन्त्र' एवं 'योगिनी-हृदय-तन्त्र'में कुल ५१ पीठ गिनाये गये हैं। इन देवी पीठोंका पाठ 'योगिनी-हृदय,' 'ज्ञानार्णव' आदि ग्रन्थोंमें प्रायः सर्वत्र 'कामरूप'से प्रारम्भ होकर 'छायाछत्र'पर समाप्त होता है। इनमें विशेष मुख्य पीठ ये हैं—कामरूप, काशी, केदार नेपाल, पूर्णागिरि, जालंधर, श्रीपीठ, देवीकोट, गोकर्ण, जयन्ती, उज्जयिनी, प्रयाग, श्रीशैल, उड्डीयान, महालक्ष्मीपुर और छायाछत्र।

सतीके अङ्गोंसे वर्णसमाम्नायकी भी सृष्टि हुई। 'योगिनीहृदय' आदिकी विभिन्न व्याख्याओंके अनुसार 'अ'से 'क्ष' तक ५१ अक्षरोंकी वर्णमाला होती है। इसीके आधारपर ५१ पीठ निर्मित हुए हैं। एतावता समस्त भारतीय भूमि वर्णसमाम्नाय स्वरूप है। इन वर्णों, पीठों, शक्तियों-देवताओं और शरीरके सम्बन्धके ज्ञानसे साधकको मोक्षतककी अनायास सिद्धि प्राप्त होती है। उदाहरणके लिये देवीके करतलके पतन स्थलमें हिमालय पर्वतपर केदारपीठ हुआ। यहींसे 'अ' कार स्वरवर्णकी उत्पत्ति हुई। इसके दक्षिणमें कङ्कणके पतन स्थानमें अगस्त्याश्रम नामक सिद्ध उपपीठ हुआ और उसके पश्चिममें मुद्रिकाके पतनस्थलमें इन्द्राक्षी उपपीठ उद्भूत हुआ। उसके पश्चिममें वलयके पतनस्थानमें रेवती नदीके तटपर 'राजराजेश्वरी' उपपीठ हुआ। इस प्रकार 'अ'कारसे सम्बद्ध इस प्रधान पीठके तीन उपपीठ आविर्भूत हुए। इन पीठोंके विधिपूर्वक जप, ध्यान, पाठ, रहस्य-ज्ञान एवं न्यास द्वारा प्राणी शिवरूप हो जाता है—'न्यस्त्वा साक्षात् स्वयं शिवः' (ज्ञानार्णव १४ । १२४)

—डॉ० श्रीसीताशरणजी मिश्र, 'शरण'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मातृ-भावकी विजय

(एक प्रेरक प्रसङ्ग)

शिकागो (अमेरिका) के विश्वधर्म-सम्मेलनसे लौटते समय स्वामी विवेकानन्द धर्मप्रचारके सिलसिलेमें यूरोपका सन् १८९४-९५ ई०में भ्रमण करते हुए जब फ्राँस पहुँचे तो वहाँ पाश्चात्त्य संस्कारोंवाली किसी एक सम्भ्रान्त फ्राँसीसी सुन्दर युवतीने उनके व्यक्तित्व तथा ओजस्वितासे प्रभावित और आकर्षित हो स्वामीजीसे समय माँगकर एकान्तमें उनसे विवाह करनेकी अभिलाषा निवेदित की। विवेकानन्दजी उसकी इस अज्ञानता और साहसपर आश्चर्यचकित हो गये; किंतु उन्होंने बड़े धैर्य और संयत स्वरसे उससे प्रश्न किया—'तुम मुझसे विवाह क्यों करना चाहती हो?' युवतीका उत्तर था—'इसलिये कि मैं आप-जैसा पुत्र अपने लिये चाहती हूँ।' सुनते ही स्वामीजीने तुरंत समाधान किया—'तब तो तुम मुझे ही अपना पुत्र मान लो।' तुम मेरी माँ हो, माँ!

वह विदेशी सम्भ्रान्त युवती यह सुनते ही हतप्रभ और अवाक् रह गयी। स्वामीजीके इस वाक्यने उसकी आँखें खोल दीं। उसने मन-ही-मन भारतीय उच्च संस्कार-शीलता और आर्यशील नैतिकताको सादर नमन करते हुए स्वामीजीको श्रद्धा-सहित प्रणाम किया। भारतके एक तपोनिष्ठ संतने उसके विचारोंमें महान् परिवर्तन ला दिया। आदर्शचरित्रकी शिक्षाका मोल ऐसा ही अनमोल होता है।

—श्रीआर० वी० कटकर

(२)

अपवित्र कमाईका परिणाम

मेरे एक अध्यापक मित्रने मुझे यह घटना सुनायी थी। सन् १९७७ में उनके एक परिचित ठेकेदार (जो दुकानदार भी हैं) की एक नयी ट्रक खड्डेमें गिरकर चकनाचूर हो गयी। चालकसहित उसमें सवार सभी व्यक्ति जीवित बच गये। जब मेरे मित्र सान्त्वनार्थ उनके पास गये तो वे कहने लगे—'अच्छा हुआ, अपवित्र कमाई नष्ट हो गयी! ईश्वरकी यही अत्यधिक कृपा हो गयी कि कोई जानी-नुकसान नहीं हुआ। न जाने मैंने कितने ही गरीब मजदूरोंकी पसीनेकी कमाई हड़पकर वह ट्रक खरीदी थी! उसकी तुलनामें यह सजा कहीं बहुत कम है। इन शब्दोंमें उन ठेकेदार महाशयका सच्चा पश्चात्ताप प्रकट हो रहा था। इस घटनासे आजके अवैध और गलत तरीकोंसे धनार्जन करनेवाले (धन-बटोरों) को कुछ सीख लेनी चाहिये। किसी अज्ञात विचारकके ये शब्द कितने तथ्यपूर्ण और सही हैं कि—

'जो धनिक बननेकी शीघ्रतामें है, वह निरपराध नहीं हो सकता।'

—लेखराम शास्त्री एम्० ए०

(३)

सूर्य-चिकित्साका चमत्कार

मेरी पत्नीको बवासीरकी बीमारी थी; मसे पक गये थे। बहुत अधिक कष्ट था। पीड़ा दिन-प्रतिदिन असह्य होती जा रही थी। काफी इलाज किया गया। दस रुपयेका एक-एक कैपसूल (एलोपैथी औषध) दिया गया। आयुर्वैदिक चिकित्सा भी की गयी, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ।

अन्तमें मैंने कल्याणके सूर्याङ्क (५३ वें वर्षके विशेषाङ्क) में छपे एक लेख (पृष्ठ-संख्या ३५५) के अनुसार नीले रंगकी बोतल अच्छी तरह साफ करके उसमें शुद्ध जल भरकर उसे एक लकड़ीके तखतेपर छतपर नित्यप्रति सुबह १० बजेसे ५ बजे शामतक कुछ दिनोंतक रखता रहा। उसमेंसे थोड़ा जल बीमारको पीनेके लिये देता रहा तथा उसीके थोड़े जलमें रुई

भिगोकर पके हुए मसोंपर लगाता रहा। मात्र तीन दिन ऐसा किया कि चौथे दिन (भगवान् सूर्यके कृपा-प्रभावसे) सब मसे गायब हो गये और दर्द भी बिल्कुल जाता रहा। लगभग पाँच मास व्यतीत हो जानेपर आजतक उस प्रकारकी कोई तकलीफ फिर नहीं हुई। इसके पूर्व कई लोगोंने परामर्श दिया था कि ऑपरेशन कराना जरूरी है। परंतु इस सूर्य-चिकित्साके कारण ऑपरेशनसे भी बच गया। सूर्य-चिकित्साका यह मेरा प्रथम और प्रत्यक्ष अनुभव है। भगवान् सूर्यकी किरणोंमें रोग-निवारक कैसी अद्भुत शक्ति है! —जे० एन० कौल

(४)

भगवन्निष्ठाका अद्भुत फल

गतवर्षके सितम्बर मासकी घटना है। भारी वर्षा होनेके कारण हमारे यहाँ मलेरियाका प्रकोप चल रहा था। हमारे घरके सभी सदस्य एक-दो बार इसकी चपेटमें आ चुके थे, मात्र मैं ही अछूता था। घरवालोंद्वारा मुझे स्वास्थ्यके प्रति सतर्क करनेपर मैं अहंकार-मिश्रित भाषामें रोगको स्वयंसे भयभीत बतलाया करता था!

संयोगकी बात कि कुछ दिन बाद ही मुझे मलेरिया-ज्वर हो गया, जो चार-पाँच रोज बाद ही मियादी (टायफाइड)में बदल गया। एक एलोपैथिक डॉक्टर महोदयके इलाजसे बुखार कुछ कम हो गया, लेकिन पूरी तरहसे न उतरा। दस-पंद्रह रोजतक बुखारके एकदम चलते रहनेपर हारकर डॉक्टर महोदयके निर्देशपर घरवालोंने भोजन देना प्रारम्भ कर दिया; लेकिन एक-दो दिन भोजन लेनेके बाद फिर वही—तीन-चार डिग्रीतक बुखार हो जाता था। इस बार एक वैद्यजीसे आयुर्वैदिक-चिकित्सा करवायी गयी। उनकी चिकित्सासे ज्वर एकदम उतर गया एवं दो-तीन दिनतक अनाहार रहनेके बाद अन्न देनेका निश्चय किया गया। दुर्भाग्यकी बात कि दो दिन बाद तीसरी बार फिर बुखार हो गया। दवा-पानी करते रहनेपर भी इसके काबूमें न आनेपर सभीके होश उड़ गये। यद्यपि बुखारके दो आक्रमणोंसे मैं भी इतना चिन्तित नहीं हुआ था; पर इस बार मुझे स्वाभाविकरूपसे घबराहट हो रही थी। अबतक मेरा दर्प अच्छी तरह दलित हो चुका था। अपने अन्तरतममें यह महसूस करते हुए कि अभिमान प्रकट करना एक अनुचित कार्य था, मैंने प्रभुसे क्षमा-याचना करते हुए निम्नलिखित पदका पाठ करना शुरू कर दिया, जिससे अपने सभी इष्ट-देवोंका स्मरण हो सके—

जय श्रीराम, जय श्रीश्याम, जय हनुमान, जय घनश्याम।
स्वस्थ बनाओ हे भगवान्, कष्ट मिटाओ सीताराम॥

उक्त पङ्क्तियाँ तो एक निमित्तमात्र थीं, उद्देश्य तो करुणावरुणालय सच्चिदानन्द परमेश्वरसे अपनी चलती (किन्हीं अपराधों-)के लिये क्षमा-याचना करना था। प्रभुने सच्चे हृदयसे की गयी मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और ४८ घंटे बाद ही करीब डेढ़ माह पुराना बुखार समाप्त हो गया। फिर कभी इसकी पुनरावृत्ति भी नहीं हुई।

इस घटनाके पश्चात् मैं उस परम-पिता परमेश्वरका और अधिक भक्त हो गया। —श्यामजी लाटा

(५)

भगवतीकी कृपासे रोग-मुक्ति

बात सन् १९४५ की है। मेरा द्वितीय पुत्र चि० रतीश जो आजकल राँची कॉलेज मानव-विभागमें लेक्चरर है—होमियोपैथिक औषधि एपिस-पिल खानेसे एकाएक बीमार पड़ गया। सारे शरीरमें चेचक-जैसी बड़ी-बड़ी गोटियाँ निकल आईं—अब तो जीवनसे निराशा होने लगी। उन दिनों मैं आरा जिलास्कूलमें शिक्षक तथा बोर्डिंग-सुपरिटेन्डेंट था। प्रधानाध्यापक स्वर्गीय नितरंजन बाबूने कहा—'अवधेश बाबू! आप रात्रिभर श्रीदुर्गासप्तशती (अ० ११ श्लोक २९)के इस मन्त्रका जप करें—

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा
रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान्।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां
त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति॥

तदनुसार मैंने रातभर जागकर बड़े मनोयोगसे उपर्युक्त मन्त्रका जप किया। जगज्जननीकी कृपासे दूसरे दिनसे ही बालक स्वस्थ होने लगा। कुछ दिनोंमें वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। यह सच है कि वे आर्तोंकी याचना अवश्य पूर्ण करती हैं। —अखौरी अवधेशनंदनजी

(६)

नवार्णमन्त्रके प्रभावसे जीवन-रक्षा

घटना जून १९७०की है। मेरा २२ वर्षीय छोटा भाई एक प्राइवेट कम्पनीमें ट्रक-ड्राइवर था। प्रतिदिनकी तरह एक रातको जब वह अपने कार्यपरसे काफी देरसे लौटा तो बोल नहीं पा रहा था। पूछनेपर संकेतसे पता चला कि उसका गला बंद हो गया है। मैंने कुछ घरेलू उपचारोंके बाद स्थानीय डॉक्टर, हकीम तथा वैद्यराजको बुलाया। सबने भिन्न-भिन्न रायें दीं। डॉक्टरने कहा कि इसने किसी विषैली वस्तुका सेवन कर लिया है। परंतु ऐसा कुछ नहीं था। मैंने उस समय कोई अन्य उपचार आरम्भ न करके एक चम्मच बादाम दूधमें मिलाकर पिलाया तो वह उस रातको सो सका।

दूसरे दिन विशेषज्ञोंने गलेका फोड़ा बताया और ऑपरेशनकी राय दी। मैंने उसकी कम्पनीके मालिकको फोन किया; उन्होंने अपने पारिवारिक चिकित्सकके औषधालयमें उसे भरती करवा दिया। विशेष परीक्षण और एक सप्ताहके उपचारके बाद भी जब उसके कष्टमें थोड़ा भी अन्तर न पड़ा तो सारा परिवार व्याकुल हो उठा और लड़का भी नलीकी सहायतासे खुराक देने तथा एक दिनमें कई-कई इंजेक्शनोंके लगानेसे परेशान हो उठा। अन्तमें ग्लूकोज और आक्सिजनकी राय भी दी गयी। मैं परिवारवालोंको धैर्य रखाता हुआ भी स्वयं अपना धैर्य खो बैठा था। अन्तमें वहाँके उपचारसे निराश हो डॉक्टरसे निदान तथा उपचारसम्बन्धी विवरण लेकर अमृतसर ले जानेके लिये प्रस्तुत हो गया। परंतु इस अवधिमें मैं स्वयं उसके पास बैठकर नवार्ण-मन्त्र[1]का जप करता एवं प्रतिदिन देवीका चरणामृत उसे पिलाता रहा। साथ ही भगवती जगदम्बासे उसके जीवनकी रक्षाके लिये आर्तभावसे मूक प्रार्थना भी करता रहा।

अपने पूर्व निश्चयानुसार पूर्णरूपेण भगवतीका आश्रय लेकर तथा उन्हींका स्मरण करता हुआ मैं उसे साथमें लेकर अमृतसर रवाना हो गया। हम लोग अभी जालन्धरतक ही पहुँचे थे कि मेरे भाईने संतरोंकी दुकान देखकर प्यास लगनेका संकेत किया। मेरा मानसिक जप तो चल ही रहा था। माँका भरोसा रखकर दो गिलास संतरेका रस निकलवाया और रास्तेमें उसे थोड़ा-थोड़ा करके पिला दिया। अमृतसर जाकर जब विशेषज्ञोंसे उसकी जाँच करवायी तो उन्होंने पूर्ण स्वस्थ होनेका निर्णय सुनाया। मेरे हर्षकी कोई सीमा न रही। शामको उसे खिचड़ीका भोजन दिया गया। उसका रुका हुआ कण्ठ अब खुल गया था। बोलनेमें भी उसे अब कोई कठिनाई न थी। मेरा चिन्तातुर परिवार भी, जो अबतक अमृतसर पहुँच चुका था, प्रसन्नतासे सहसा खिल उठा। भगवतीकी अनुकम्पासे हम सब लोग हँसते हुए घर वापस लौट आये। उसके बाद फिर कभी उसे इस प्रकारका कष्ट नहीं हुआ।

हमारे परिवारके लिये देवीकी कृपा और इस चमत्कारिक मन्त्रके अद्भुत प्रभावका यह संस्मरण सदा चिरस्मरणीय तथा प्रेरक बना रहेगा।

—प्रो० सन्ध्याप्रकाश वासिष्ठ, साहित्याचार्य

१. 'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।'

॥ श्रीहरिः ॥

किन कार्योंमें विलम्ब् और किन कार्योंमें विलम्ब नहीं करना चाहिये

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् । चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि । अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥
बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च । अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥
एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः । चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥
चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति । पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ॥
चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् । चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च । चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥
धर्मे शत्रौ शस्त्रहस्ते पात्रे च निकटस्थिते । भये च साधुपूजायां चिरकारी न शस्यते ॥

(महा० १२ । २६६ । ६९—७६, स्कन्दपुरा० माहे० कुमा० ६ । १२०–२६,२९)

(चिरकारीने सोचा—) 'चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये । यदि छोड़नेकी आवश्यकता ही पड़ जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये । दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है । राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलंब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है । बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जो जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है, उसीकी प्रशंसा की जाती है । इस प्रकार सभी कार्योंमें विचार करके चिरकालके पश्चात् किसी निश्चयपर पहुँचनेवाले पुरुषको दीर्घकालतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता । जो चिरकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं होता जो पश्चात्ताप करानेवाला हो । दीर्घकालतक वृद्धोंकी सेवा करे । दीर्घकालतक उनका सङ्ग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे । चिरकालतक धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे । अधिक समयतक विद्वानोंका सङ्ग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे । इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं; अपितु सम्मानका भागी होता है । (भगवद्भक्ति, देव-पूजन, तीर्थ-सेवन, सत्-अनुष्ठान, नित्यनैमित्तिकादि शास्त्रीय कर्मरूपी) धर्मकार्योंमें, हाथमें शस्त्र लिये शत्रुके आनेपर, (दानके लिये) श्रेष्ठ पात्र मिलनेपर, भय उपस्थित होनेपर और साधुसेवाके काममें देर करनेवाला प्रशंसनीय नहीं होता ।'

भक्तोंकी सदा अभ्युदयकारिणी भगवती दुर्गा

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥
शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्ता च सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ॥
मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा ।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥
ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र-
विम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम् ।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्तरुषा तथापि
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥
ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः ।
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ४ । ९—१२, १५)

(देवता बोले—) देवि ! जो मोक्षकी प्राप्तिका साधन है, अचिन्त्य महाव्रतस्वरूपा है, समस्त दोषोंसे रहित, जितेन्द्रिय, तत्त्वको ही सार वस्तु माननेवाले तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मुनिजन जिसका अभ्यास करते हैं, वह भगवती परा विद्या आप ही हैं । आप शब्दस्वरूपा हैं, अत्यन्त निर्मल ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा उद्गीथके मनोहर पदोंके पाठसे युक्त सामवेदका भी आधार आप ही हैं । आप देवी, त्रयी (तीनों वेद) और भगवती (छहों ऐश्वर्योंसे युक्त) हैं । इस विश्वकी उत्पत्ति एवं पालनके लिये आप ही वार्ता (खेती, व्यापार एवं आजीविका)के रूपमें प्रकट हुई हैं । आप सम्पूर्ण जगत्की घोर पीड़ाका नाश करनेवाली हैं । देवि ! जिससे समस्त शास्त्रोंके सारका ज्ञान होता है, वह मेधाशक्ति आप ही हैं । दुर्गम भवसागरसे पार उतारनेवाली नौकारूप दुर्गादेवी भी आप ही हैं । आपकी कहीं भी आसक्ति नहीं है । कैटभके शत्रु भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें एकमात्र निवास करनेवाली भगवती लक्ष्मी तथा भगवान् चन्द्रशेखरद्वारा सम्मानित गौरीदेवी भी आप ही हैं । आपका मुख मन्द मुसकानसे शोभित, निर्मल पूर्ण चन्द्रमाके बिम्बका अनुकरण करनेवाला और उत्तम सुवर्णकी मनोहर कान्तिसे कमनीय है, तो भी उसे देखकर महिषासुरको क्रोध हुआ और सहसा उसने उसपर प्रहार कर दिया, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! सदा अभ्युदय प्रदान करनेवाली आप जिनपर प्रसन्न रहती हैं, वे ही देशमें सम्मानित हैं, उन्हींको धन और यशकी प्राप्ति होती है, उन्हींका धर्म कभी शिथिल नहीं होता तथा वे ही अपने हृष्टपुष्ट स्त्री, पुत्र और भृत्योंके साथ धन्य माने जाते हैं ।